कहानी : अनुभव और शिल्प

कहानी : अनुभव और शिल्प

लेखक
जैनेन्द्र कुमार

भूमिका
विजयेन्द्र स्नातक

प्रकाशक
पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली

प्रकाशक पूर्वोदय प्रकाशन
स्वत्वाधिकारी
पूर्वोदय प्रा० लि०
८ नेताजी सुभाष मार्ग
दिल्ली–६
प्रथम संस्करण मार्च, १९६७
मूल्य छः रुपये
मुद्रक उद्योगशाला प्रेस,
किंग्सवे, दिल्ली–६

लेखकीय

सुनता हूँ कि कहानी लिखना एक शिल्प है और कला है। कहानियाँ मैंने लिखी जरूर हैं और अब भी लिख लेता हूँ लेकिन कला वगैरह का मुझे कुछ पता नही है। शायद मान लिया जाता होगा कि लिखी है तो कहानी को मैं जानता जरूर होऊँगा। इसी से जब-तब कहानी को लेकर भेंट वार्ता में मुझे जिरह के नीचे आना पड़ा है। गोष्ठियाँ, परिसम्वादों में आक्षेपों के बीच खड़ा होना और बोलना-भुगतना पड़ा है। यह सकलन कुछ उसी तरह की बातों को लेकर प्रकाशित किया जा रहा है। लिखने के पहले दिन से आज तक मैं कहता आ रहा हूँ कि मैं नहीं जानता हूँ। यहाँ तक भी कि जानना चाहता भी नहीं हूँ। कारण और कुछ नहीं, सिर्फ यह कि होने से ही मुझे छुट्टी नहीं है। इस होने और होते जाने में जो करना समाया है उसी में मुझ से कहानियाँ लिख गई हैं। उससे आगे और विश्वसनीय मैं कुछ नहीं कह सकता हूँ।

पुस्तक सबके समक्ष है और कहानी को लेकर जो कुछ इसमें कहा सुना गया है आशा है उसको लेकर मनोविनोद शायद हो जाय विशेष तत्वचर्चा न होगी।

११ मार्च '६७ —जैनेन्द्रकुमार

प्रकाशकीय

यह सकलन अनेक बन्धुओ के कृतित्व के योग से बनने मे आया है। 'कहानी म अपेक्षणीय और उपेक्षणीय' तथा 'कहानी प्रेरणा, प्रभाव और शिल्प लेखो के प्रश्नकर्त्ता श्री जगदीश गोयल ह। सवश्री प्रदीप पत महेन्द्र त्यागी धर्मेन्द्र गुप्त की भेंट वार्ताओ को सयुक्त करके स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी-कहानी एक विश्लेषण को स्वरूप मिला है। 'हिन्दी कहानी शील निरूपण के प्रश्नकर्त्ता श्री ओम प्रकाश दीपक हैं। सम्पादन म उपयुक्त लेखो का उपयुक्त शीषक आदि देने की आवश्यकता हुई है। विश्वास है कर्त्ता बन्धुओ को वे अनुकूल प्रतीत होगे।

'नीलम देश की राजकन्या ग्रामोफोन का रिकाड और पत्नी कहानी पर लेखक के वक्तव्य सकलन म सम्मिलित हैं। उनकी विज्ञान और अभिमान कहानियाँ पर्याप्त चर्चास्पद रही थी। उस प्रकरण मे धमयुग में प्रकाशित श्री रमेश बक्षी और लेखक के पत्र भी उपयोगी जानकर यहाँ प्रस्तुत किय जा रहे ह।

कलकत्ता कथा समारोह म जनेन्द्रजी के वक्तव्य और तत्प्रेरित व्यक्त एवम अव्यक्त प्रतिक्रियाओ को ध्यान मे रखकर उनकी अपनी कैफियत दी जा रही है।

दिल्ली विश्वविद्यालय के श्री डा० विजयेन्द्र स्नातक ने पारायणपूवक पुस्तक की भूमिका तयार की है जो हिन्दी कहानी क नये आयामो का निरूपण कराती है।

इन सभी बन्धुओं के सहयोग क लिए हम उनके प्रति हृदय स आभारी है।

•

अनुक्रम

प्रकाशकीय

यह सकलन अनेक बधुओ के कृतित्व के योग से बनने मे आया है। कहानी मे अपेक्षणीय और उपेक्षणीय तथा कहानी प्रेरणा, प्रभाव और शिल्प' लेखो के प्रश्नकर्त्ता श्री जगदीश गोयल है। सवश्री प्रदीप पत महेन्द्र त्यागी, धर्मेन्द्र गुप्त की भेंट वार्ताओ को सयुक्त करके स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कहानी एक विश्लेषण को स्वरूप मिला है। 'हिन्दी कहानी शील निरूपण' के प्रश्नकर्त्ता श्री ओम प्रकाश दीपक हैं। सम्पादन म उपयुक्त लेखो को उपयुक्त शीषक आदि देने की आवश्यकता हुई है। विश्वास है कर्त्ता बन्धुओ को वे अनुकूल प्रतीत होगे।

नीलम देश की राजकन्या ग्रामोफोन का रिकाड और पत्नी कहानी पर लखक के वक्तव्य सकलन मे सम्मिलित हैं। उनकी विज्ञान और अविज्ञान कहानियाँ पर्याप्त चर्चास्पद रही थी। उस प्रकरण मे धमयुग म प्रकाशित श्री रमेश बक्षी और लखक क पत्र भी उपयोगी जानकर यहाँ प्रस्तुत किय जा रह है।

कलकत्ता कथा-समारोह म जनेन्द्रजी के वक्तव्य और तत्प्रेरित व्यक्त एवम अव्यक्त प्रतिक्रियाओ को ध्यान मे रखकर उनकी अपनी कैफियत दी जा रही है।

दिल्ली विश्वविद्यालय के श्री डा० विजये द्र स्नातक ने पारायणपूवक पुस्तक की भूमिका तयार की है जो हिन्दी कहानी के नय आयामो का दिग्दशन कराती है।

इन सभी बन्धुओ के सहयोग के लिए हम उनके प्रति हृदय से आभारी है।

अनुक्रम

भूमिका

डा० विजयेन्द्र स्नातक

हिन्दी कथा साहित्य में इतिहास म प्रेमचन्द के बाद जैनेन्द्रकुमार का उदय एक ऐतिहासिक घटना है। जैनेन्द्रकुमार कथा साहित्य म जिस रूप म प्रविष्ट हुए वह भी कम विस्मयजनक नही है। प्रारम्भ मे जनेन्द्र विचारक रहे होंगे विचार और चिन्तन के क्षेत्र की इयत्ता नही है। चिन्तन मनन म लीन होने पर प्रत्येक व्यक्ति लोक परलोक सबम विचरण करने का अधिकार प्राप्त कर लेता है। मैं नही जानता कि जनेन्द्र ने यह अधिकार किस आयु मे पा लिया था। मैंने उनके बारे मे जो कुछ पढा है उसम भी इसका कोई ब्यौरा नही है। किन्तु जैनेन्द्र क कथा क्षेत्र म प्रवेश करने की बात विचित्र होने पर भी जनेन्द्र-साहित्य के पाठक को भलीभाति विदित है। जनेन्द्र ने एक युवक की बात, बिना किसी सयोजना क सरसरी तौर पर, लेकिन पूरी सहजता के साथ परख म लिखी थी। 'परख' लिखते समय जनेन्द्र को उपन्यास की रचना-प्रक्रिया का बोध नही था शास्त्रीय समीक्षा म उपन्यास के क्या तत्त्व होते हैं यह भी जानने की जनेन्द्र न चिन्ता नही की थी। लकिन हाँ जनेन्द्र न सत्य-धन को जीते देखा था, कट्टो को भीतर ही भीतर कसमसाते देखा था, और उस सामाजिक परिवेश को भी देखा था जो इन दोनो पात्रो क चारो ओर फला होने पर भी इन्हें बाध रहा था। बस, जनेन्द्र ने उसे लिपिबद्ध कर डाला और प्रेमचन्द ने कहा कि यह यथार्थ-दृष्टि का उन्मेष करन वाली सफल कृति है— यह नया उपन्यास है। इसीलिए कहता हूँ कि जनेन्द्र का कथा क्षेत्र म उद्भव एक आकस्मिक किन्तु अदभुत ऐतिहासिक घटना है।

जनेन्द्र को हिन्दी-कथा क्षेत्र म आये आज छत्तीस वप व्यतीत हो गये। बीसवी शताब्दी की एक तिहाई और वह भी शताब्दी के ठीक मध्य की छत्तीसी जनेन्द्र की रचना अवधि है। इस अवधि के पूर्वार्द्ध को हिन्दी साहित्य के इतिहास लखक 'प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी कथा साहित्य' के नाम से व्यवहृत करते हैं और उत्तरार्द्ध को स्वातन्त्र्योत्तर कथा साहित्य के नाम स स्वाधीनता प्राप्ति के परिप्रेक्ष्य म रखकर नय मानदण्डो और मूल्यो द्वारा उसका आकलन अध्ययन करते हैं। इन दोनो विभाजनो म स प्रथम विभाजन म जनेन्द्र प्रमुख कथाकार हैं। जनेन्द्र के उसमे प्रमुख होने का कभी कोई दावा नही किया किन्तु कहानी को नया मोड़ देने और पात्रो के अन्तर्द्वन्द्व को चित्रित करने की नयी शैली के कारण यह स्थान जनेन्द्र को अनायास उपलब्ध हो गया है। परख के बाद जनेन्द्र ने कहानी और उपन्यास दोनो क्षेत्रो म विपुल सृजन किया। उपन्यासो मे सुनीता और त्यागपत्र तो अपने युग की श्रेष्ठतम कृति रूप म समादृत हुए। इसी समय उनकी अत्यन्त विख्यात कहानियाँ भी प्रकाश म आई। कहानी म जिस सवेदन और बोध को आज बडे आयास पूवक लाया जा रहा है वह आज से तीस वप पूव लिखी जनेन्द्र की कहानियो म इतनी प्रचुर मात्रा मे था कि उसके बिना कहानी का विश्लेषण हो ही नही सकता। कुछ समीक्षकों ने इसी सवेदन और जीवन बोध को पाकर जनेन्द्र की कहानियो को विचारात्मक कहानी स निबधात्मक कहानी तक पहुचाने का प्रयत्न किया था। किन्तु कहानी, यदि वह किसी कथ्य को घटनात्मक रूप स प्रस्तुत करती है तभी कहानी है अन्यथा नही—यह बात जनेन्द्र की समझ म कभी नही आई। उन्हे घटनाओ की सयोजना का आग्रह कभी नही रहा। घटनाए तो केवल आवरण मात्र हैं—और कहानी केवल आवरण नहीं है। कोई व्यक्ति खोल को लेकर जीवित चेतना की प्राप्ति का दभ नही करेगा। इसलिए जनेन्द्र की कहानियो म जिन पात्रो की सृष्टि हुई वे केवल आपबीती को दुहराने वाल न होकर आपबीती के कारण स्वय सवथा म उलझने वाले, उन गुत्थियो म स्वय उलझ कर उन्हें सुलझाने का प्रयत्न करने वाले हैं। कौन कह सकता है कि उलझनो को सुलझाने की हरेक कोशिश का सुलझन ही म खत्म होती है—अनेक बार मन की गुत्थियो क फेर मे पड़ कर जनेन्द्र क पात्र यदि स्वय दिग्भ्रमित हो गये हों तो इसम आश्चय की क्या

बात है। जैनेन्द्र के मनका संशय और सन्देह जीवन को अधिक गहराई से जानने समझने का साधन मात्र है। वह उनकी जीवन यात्रा की प्रारम्भिक सोपान मात्र है, यात्रा का अन्तिम गन्तव्य नहीं।

जैनेन्द्र जब कथा क्षेत्र में अवतरित हुए थे तब योरोप में मनोविश्लेषण का सिद्धान्त चिकित्सा विज्ञान से होता हुआ ललित साहित्य में पूरी तरह पैठ चुका था। फ्राइड आदि मनोविश्लेषण शास्त्रियों की स्थापनाएँ काव्य, नाटक और कथा साहित्य की समीक्षा में चरितार्थ हो रही थी और रचनाकार भी उनसे पूरी तरह अवगत था। हिन्दी में मनोविश्लेषण शास्त्र का, समीक्षा क्षेत्र में प्रयोग, छायावाद युग से प्रारम्भ हुआ और छायावादोत्तर लेखक अर्थात सन् १६३० के बाद के रचनाकार के भीतर इस शास्त्र की गंध धीरे धीरे बसने लगी थी। जैनेन्द्र उसी युग में आये और मैं नहीं जानता कि वे इस शास्त्र गंध से वासित थे या नहीं किन्तु गंध तो जैसे वातावरण में सहज ही फैल जाती है वैसे ही वह जैनेन्द्र के साहित्य में चुपचाप आ गई हो तो कुछ आश्चर्य नहीं है। लेकिन शायद जनेन्द्र इस गंध को काम्य न मानते हों और इसी कारण शायद अपने साहित्य से इसे दूर रखने की इच्छा भी व्यक्त करें किन्तु मेरी अपनी दृष्टि से वे मनोविश्लेषण के फेर से बच नहीं सकते, भले ही उस विश्लेषण को वे स्वतः स्फूर्त कहकर फ्राइड आदि मनोविज्ञान वेत्ता चिकित्सकों से दूर रखकर देखें।

मैं इस तथ्य का संकेत इसलिए कर रहा हूँ कि बाद के साहित्य में मनोविज्ञान या मनोविश्लेषण शास्त्र को एक उपयोगी तत्व समझ कर स्वीकृत किया गया और उसके प्रयोगात्मक पक्ष की स्वीकृति से कथा में पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व ही नहीं घटनाओं का विकास एवं फलितार्थ भी प्रस्तुत किये गये। कुछ समीक्षकों ने तो कथा लेखकों के वर्ग बनाते हुए जनेन्द्र को भी इसी वर्ग में रखने का आग्रह किया। मैं नहीं समझता कि जनेन्द्र ने अपने को कभी किसी वर्ग में बांधा जाना पसन्द किया हो, लेकिन जनेन्द्र की पसन्द की परवाह कौन करता है। जब समीक्षा वर्ग विभाजन से ही चलती है तो कोई भी लेखक अपने बंधन को, अनिच्छा से ही सही मानने से इंकार नहीं कर सकेगा। फलतः कथा

साहित्य मे मनोविज्ञान का पूरी तरह सूत्रपात करने का दायित्व जैनेन्द्र और इलाचन्द्र जोशी पर लाद दिया गया। मैं यह बात प्रेमचन्दोत्तर कथासाहित्य के इतिहास के साक्ष्य पर कह रहा हूँ। स्वातन्त्र्योत्तर काल मे इस दायित्व को जैनेन्द्र से छीनने का प्रयत्न हुआ और जैनेन्द्र की श्रेष्ठ कहानियो मे मन के संघर्ष और द्वन्द्व को अन्यथा ठहरा कर जैनेन्द्र का काम केलि के कुत्सित वर्णन तक ही सीमित रख कर देखने की बात नये कथाकारो द्वारा कही गई। कैसी विचित्र विडम्बना है कि जैनेन्द्र की सर्वश्रेष्ठ कहानियो को अन्तर्द्वन्द्व स्वातन्त्र्योत्तर काल मे, यौन कुण्ठाओ से लिपटा जुगुप्सा पूर्ण करार दे दिया गया। समीक्षा की ऐसी दयनीय स्थिति भी होती है इसकी कल्पना तो की जा सकती है किन्तु इसे घटित होते देखना समीक्षा के मानदण्डो को दूर ही से प्रणाम करना है। पूर्वाग्रह से दुष्ट पक्षधरता की यही परिणति समझनी चाहिए।

जैनेन्द्र ने अपने उपन्यासो मे कुछ ऐसे पात्र अवतरित किये है जो साधारण से भिन्न होते हुए भी उन सिद्धान्तो के परीक्षण मे लगे हुए हैं जो शायद साधारण व्यक्ति द्वारा क्रियान्वित होते नहीं देखे जाते। सिद्धान्तो की स्वीकृति और क्रियान्वयन दो भिन्न तथ्य हैं। सिद्धान्त की स्वीकृति तथ्य मात्र है। किन्तु सिद्धान्त का क्रियान्वयन सत्य की स्थापना है। सिद्धान्त कोई भी क्यो न हो अपने पुस्तकीय रूप मे वह ग्राह्य या अग्राह्य नही होता। अहिंसा या सत्य जीवन बोध के निकष पर ही सिद्धान्त बनते हैं वैसे तो ये दोनो शब्द धर्म-ग्रन्थ की शोभा बढाने के लिए हैं।

जैनेन्द्र ने कहानियो मे जिन पात्रो को अवतरित किया या वे पात्र जैनेन्द्र ने अपने इर्द गिर्द देखे होंगे। न भी देखे हो तो जैनेन्द्र के भीतर से भी वे पात्र आ सकते हैं। किसी भी पात्र घटना या चित्रण को नाम और स्थान पूर्वक सबको मे होना ही चाहिए यह कोई अनिवार्य शर्त नहीं है। भीतर भी पात्र होता है भीतर भी घटनाए घटती हैं भीतर भी द्वन्द्व से चित्रण की रेखाएँ खिचती है। अनुभूति बाहर से भीतर जगती है और भीतर से बाहर आकर रूपायित होती है। इस प्रक्रिया को कोई भी कथाकार सहज ही मे जान सकता है। जैनेन्द्र ने अपनी प्रारम्भिक कहानियों के बारे मे कहा है कि वे कहानियाँ

कल्पना के भीतर से नहीं बनी। उन्हें जैनेन्द्र ने बनाया नहीं—जो देखा उसे कहने की बाध्यता में से कहानी ने स्वयं रूप ग्रहण कर लिया। यह जैनेन्द्र के यथार्थवादी रचनाकार का एक पहलू माना जा सकता है। इस पर अभी तक आलोचक का ध्यान नहीं गया है।

मैं इस संदर्भ में जैनेन्द्र के अपने शब्दों को ही उद्धृत करना चाहूँगा। जैनेन्द्र ने अपने कथा साहित्य की रचना प्रक्रिया के उत्स पर विचार करते हुए लिखा है 'शुरू में जो कहानियां लिखी गईं वे मेरे उस समय के जीवन से जुड़ी रखी जा सकती हैं। उनकी प्रेरणा अमुक रचना से नहीं आई होगी, क्योंकि वह बिल्कुल जुड़ी हुई थी मेरे तात्कालिक जीवन से निमित्त कुछ बन गया हो, यह बात जुदा है। अपनी स्पर्द्धा शीर्षक कहानी के उद्भव के बारे में जैनेन्द्र ने पूरा वितान फैलाकर जो बात कही है वह भी मेरे इस कथन की पुष्टि करती है कि जैनेन्द्र के अपने परिवेश के भीतर से कहानी फूटती रही है। एक सम्पादक को कहानी देने का आग्रह कर जैनेन्द्र इस चिंता में एक दिन डूब गये कि कल कहानी देनी है लेकिन कहानी है कहाँ। कैसे लिखूं और क्या लिखूं ? कल कहानी देने की फिक्र' और मैं ऊपर तारे देख रहा था। लगा कि एक तारा बहुत बड़ा है और बहुत दूर। और मैं कुछ नहीं हूं। और मैं तारा नहीं हो सकता। उसी घड़ी में एक सूत्र मन में फट कर टकराया कि यदि मैं अपनी चाह को तारे में बिठा दूं तो कुछ हाथ नहीं आएगा। अर्थात् आकांक्षा आदर्श का हुआ है। महत्त्वाकांक्षा में अगर चलें और एक बाहर में कहीं जाएं। प्रतिष्ठित कर दें तो अंत व्यथा में होगा पूर्णता हाथ नहीं लग सकती। बस ऐसा एक सूत्र था, उस समय मन में घटनात्मक कुछ नहीं था। इस सूत्र को—मूर्त करने के लिए अनायास दो चरित्र अवतार पाते हैं। बस उन दो प्रतीक पात्रों के बल रचना में स्पर्द्धा कहानी बनती चली गई। तो अधिकांश रचनाएं अमूर्त सिद्धान्त को अपने निकट मूर्त करने की प्रेरणा से बनी हैं। मेरी अधिकांश रचनाएं सोचता हूं कि साठ प्रतिशत ऐसी होंगी।"

नयी कहानी का समीक्षक इस सिद्धान्त सूत्र से कहानी रचना में विश्वास नहीं करता। जिस सूत्र को वह कहानी के लिए आवश्यक समझता है वह है

भोगा हुआ जीवन, सही हुई पीडा, अनुभूत किया हुआ सत्य, देखा हुआ हुए विपाद। लेकिन क्या सब कुछ आत्मानुभूत ही साहित्य है ? क्या समस्त सृजन स्वकेंद्रित सत्य का अनुभूत प्रयोग मात्र है ? क्या आज का कहानी लेखक मान्यताओ के विघटन और आस्थाओ के टूटन का सारा दुख स्वय झेलने का दावा कर सकता है ? झेलने और भोगने की सीमाए हैं—भोगना सही है किन्तु लेखन का यही मेरुदण्ड बने ऐसी अनिवार्यता को लाद लेना एक सीमा तक आरोपित दण्ड है। इसे भी स्वीकार करो किन्तु इसे ही अंतिम सत्य न मानो। मैं जनेन्द्र के सिद्धान्त सूत्रो म जीवन दृष्टि को पा लेने की बात समझ पाता हूं और इसीलिए केवल भोग हुए क्षण तक साहित्य सृष्टि को सीमित नही करता।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या जनेन्द्र ने जिन सिद्धान्त सूत्रों की विवृत्ति के लिए कहानिया लिखी वे सिद्धान्त जनेन्द्र दशन के ह या तत्व दशन के। तात्विक दृष्टि को सशय दृष्टि नही बनने देना चाहिए। जनेन्द्र की दृष्टि म सशयो का घटाटोप होने के साथ एक विचित्र उलझन मिलती है। यदि सशय जीवन व्यापी है तो उसका होना जनेन्द्र से से क्यो बहिष्कृत हो, लेकिन उलझन म पाठक को छोड देना भी क्या लेखक का काम्य हो सकता है। मैं इस प्रश्न को जनेन्द्र के शब्दो स ही समाधान तक पहुचाने का प्रयत्न करूंगा। जनेन्द्र न स्वय कहा है कि कहानी लिखना तो एक भूख है जो निरन्तर समाधान पाने की कोशिश करती रहती है। हमारे अपने सवाल होते है, चिंताए होती हैं चिंताए होती है और हमीं उनका उत्तर समाधान खोजने का, पाने का सतत प्रयत्न करते रहते हैं। हमारे प्रयोग होते हैं। उदाहरणों और मिसालो की खोज होती रहती है। कहानी उस खोज के प्रयास का एक उदाहरण है। वह एक निश्चित उत्तर नहीं दे पाती पर यह अलबत्ता कहती है कि शायद उत्तर इस रास्ते म मिले। वह सूचक होती है कुछ सुझाव देती है और पाठक अपनी क्रिया के सहारे उस सूझ को ले लेते हैं।

जनेन्द्र ने कहानी म प्रश्नों के उत्तर पाने की सम्भावना ही मानी है—अंतिम उत्तर वे कहानी म नही मानते। इसीलिए सशय की भूमि उनकी कहानी

मे जितनी स्पष्ट होती है उतनी समाधान या उत्तर की भूमि नहीं मिलती। पाठक की उलझन बढती है सशय सघन होता है और वह भ्रमित सा होकर उन पात्रो से बार बार पूछता है कि यह तुमने क्या किया ? क्या तुमने आग्रह के आगे समपण किया ? क्यो तुमने अनीति को स्वीकारा ? क्यो तुमने नग्नता म अहिंसा का उत्कप देखा ? कैसी है तुम्हारी यह निस्सगता और तटस्थता जो हिंसा को पनपने दे रही है ? और पाठक जिज्ञासाओ के घूर्णायित चक्रवाल म भ्रमित हो माथा पकडकर बैठ जाता है।

क्या कहानी के माध्यम स सद्धान्तिक ऊहापोह की यह शैली उपादेय हो सकती है ? क्या कहानी की सफलता पाठक को सिद्धान्तो के विचार जगत मे पहुँचाने मे ही है ? लीजिए मैं एक कहानी के माध्यम से यह प्रश्न उठाता हूँ। कहानी का शीर्षक है 'नीलम द्वीप की राजकन्या'। कहानी बहुचर्चित रही है। इस सशय को द्वन्द्वात्मक स्यादवादी कहानी ठहराया गया है। अर्थात है भी और नही भी है शायद नही हो है, और शायद है भी, यदि नहीं है तो उसका प्रतिपादन नही हो सकता और यदि है भी तो भी वह अनिवचनीय है।' इस प्रकार जो अतिम सत्य है उसे पा लेना मानो असम्भव है। एक समीक्षक के शब्दो मे "यह कहानी जनेन्द्र की कल्पना का वही नगर है जिसपर चलकर वह सशय के सत्य तक पहुँच सकते हैं। यह दूसरी बात है कि हवा म अगुलियो से बनाया गया उनका यह नगर कोई नगर न हो कर, नगर की कल्पना मात्र हो, उसकी रेखाएँ धुएँ की हो, और हाथ लगते ही पिघलकर मिट जाती हो, लेकिन वह है कल्पना का नगर और रहेगा कल्पना का। ऐसा नही कि नगर वस्तु जगत का यह काल्पनिक निर्माण ही इन कहानियो का दोष है वरन हिन्दी कहानी के विकास को देखा जाए तो जनेन्द्र पहले लेखक होगे, जिन्होने अपनी मान्यताओ के लिए कल्पना की एक नई दुनियाँ खडी की और उसमे रक्त मांसहीन पात्रो की परछाइया दिखाकर कथानक का धोखा खडा किया गया और उसके भीतर से उभारने की चेष्टा की। विचारदर्शी जनेन्द्र को जीवन के प्रति भारी सशय है। इसलिए जब व 'रत्नप्रभा' जसी कहानियो म एक नारी की कल्पना करते हैं तो लगता है कि वह मोम की गुडिया है। कुल मिलाकर हमे इतना ही

मिलता है कि उसके पास मोटर है, सोफा है, महल और रुपये हैं वह जमुना जाती है और आती है और एक किताब बेचने वाले के प्रति सदय हो जाती है। कमाल तब है जब वह उसे हंटरों से पिटवाती है। जैनेन्द्र की रत्नप्रभा ऐसा ही अवास्तविक और नकली है जो अपने रचनाकार को एक तरुण स्वप्नदर्शी बालक को बगल में ला बिठाती है।

मैंने जो सवाल उठाया था उसका व्यापक विस्तार ऊपर के उद्धरण में देखा जा सकता है। किन्तु जैनेन्द्र की पात्र सृष्टि को इसी तर्क के द्वारा डिसमिस नहीं किया जा सकता कि वे कल्पना द्वारा निर्मित होते हैं तथा उनकी सृष्टि में केवल सिद्धान्त का अत्यन्त आग्रह होता है। मैं समझता हूं कि प्रत्येक लेखक कल्पना के योग से साहित्य सृष्टि करता है। कल्पना का अर्थ आरोपित मिथ्यात्व न होकर सम्भाव्य सत्य ही है। जैनेन्द्र की रचना का उत्स विचार में होता है। विचार और अनुभव के बीच की खाई जैनेन्द्र जिस रूप में पाटते हैं वह साधारण लेखक से भिन्न कोटि की पद्धति है। जैनेन्द्र का विचार पक्ष इतना प्रबल है कि वे अनुभव की कसौटी की उपेक्षा करते हुए अपने तर्कजाल को फैलाते चलते हैं। इस प्रकार उनकी सृष्टि में विचार का ताना-बाना ही लक्षित होता है अनुभूति के लिए गुंजाइश कम हो रह जाती है। हो सकता है जैनेन्द्र मेरे इस कथन को एकदम अस्वीकार कर दें और अपनी अनुभूतियों को रचना से संयुक्त करने का दावा करें। किन्तु मैं उनके दावे को मानने की विवशता में नहीं पड़ना चाहूंगा। प्रश्न यह उठता है कि जिस विचार को मैंने उनकी रचना का मूल प्रेरक माना है क्या वह जैनेन्द्र की अपने निजी जीवन से सम्पृक्त होता है। और क्या जैनेन्द्र अपने विचारात्मक धरातल पर जीवन जीने का उपक्रम करते हैं? यदि ऐसा है तो निश्चय ही उनकी कहानियों में प्रामाणिकता की स्थापना हो जायगी और फिर विरोध के लिए अवकाश न रहेगा। किन्तु विचार और अनुभूति का सम्बन्ध जैनेन्द्र स्थापित नहीं कर पाते। इसका कारण उनका अपना व्यक्तित्व ही है।

जैनेन्द्र अपने व्यक्तित्व में ऋजु नहीं हैं। उनमें न तो विचार की सरलता है और न व्यवहार की। वे गांधीवादी अहिंसा के समर्थक होने पर

भी अहिंसक का आवरण शायद निभा नही पाते। इसीलिए अपने पात्रो को अहिंसा के उस स्तर पर पहुचा देते हैं जहाँ पाठक नही पहुँच पाता। उनके पात्रो की पीडा को समझ पाना सरल नही है। क्योकि वह पीडा जैनेन्द्र के विचार से सम्भूत है जनेन्द्र का प्रताडित अहकार उस पीडा मे समाया हुआ है जिसे हम अहकार का विगलन कहते हैं वह जनेन्द्र की काम्य तो है किन्तु जनेन्द्र ने उस काम्य को अभी तक उपलब्ध नही किया है। कारण स्पष्ट है कि जैनेन्द्र अहकार मे इतने गहरे उतरे हुए है कि अभी उससे मुक्त होने का क्षण वे पा नही सके है। जब इनका बौद्धिक विमर्श श्रद्धा, भक्ति और प्रेम से द्रवित होकर अह के पिजडे से बाहर निकलगा तभी जनेन्द्र अपनी रचनाओ मे ऋजुता के साथ पात्रो को उतार सकेगे। जो आलोचक उनके उलझे चिन्तन पर आक्षेप करते हैं वे जनेन्द्र के व्यक्तित्व मे ओतप्रोत इस अह को ठीक प्रकार समझे नही हैं। जनेन्द्र की अहिंसा भावना मे भी यही अह छिपा बैठा है जो जनेन्द्र को सरलता से व्यक्त नही होने देता। मेरी यह बात जैनेन्द्र को रुचिकर नही लगेगी किन्तु मैं जैसा अनुभव करता हू वैसा लिखने के लिए बाध्य हूँ। बुद्धिबल से पात्रो को न तो शुद्ध अहिंसक बनाया जा सकता है और न पूर्ण आध्यात्मिक। इनकी कहानियो से मन मे तीव्र कचोट और मथन उत्पन्न होता है, उत्तेजना और आवेग उमडता है, सात्विकता और स्निग्धता नही उपजती। शान्त स्निग्ध प्रभाव के लिए जिस वातावरण की अपेक्षा होती है वह भी जनेन्द्र की कहानियो मे विरल है। आत्मपीडन से ग्रस्त उनके पात्र पाठक को आश्वस्त कर भी कैसे सकते हैं। किन्तु यह नवघाती दशन मथन पीडन और उत्तेजन ही जनेन्द्र की कथा साहित्य की शक्ति है। इस शक्ति को आलोचको ने पहले स्वीकार किया था किन्तु सन १९६० के बाद कथा साहित्य मे जो परिवर्तन आये हैं उनमे जनेन्द्र की कथा, शक्ति सामर्थ्य और शैली का अस्वीकृत करने का प्रयास चल पडा है। जो जनेन्द्र को नहीं समझते उनसे कुछ कहना व्यर्थ है किन्तु जो जनेन्द्र के कथा साहित्य की शक्ति से पूरी तरह परिचित हैं उनसे मेरा यही निवेदन है कि वे जनेन्द्र के प्रदेय को उसी रूप मे स्वीकार करें जिस रूप मे प्रेमचन्द ने स्वीकार किया था।

इधर पिछले तीन-चार वर्षों म जैने द्र ने एक उप यास 'मुक्ति बोध' और १० १२ कहानियाँ लिखी हैं। इन कहानियो के सदभ म उठी चर्चाओ की बात मैं यहा करना चाहता हू। पहली बात तो यह कि नयी कहानी के नामकरण के साथ एक दलबद्ध योजना भी 'अनजाने तैयार हो गई है। अनजाने श द को बहुत से पाठक गलत कह सकते हैं क्योंकि उनके विचार म नयी कहानी के साथ योजनाबद्ध दल सगठन हुआ है। जिस तरह कुछ विशेष नामो को लेकर वर्गीकरण होने लगा है वह भी दलीय दृष्टि से ही हो रहा है। रचनाकार की खानेब दी पहले वादो के सहारे होती थी अब नये पुराने के आधार पर होने लगी है। जैने द्र की विगान' और अ विज्ञान नीषक कहानियोपर जो चर्चा हुई वह जने द्र को न समझने क कारण नही वरन् जानबूझ कर जने द्र को समझने स इकार करने के कारण ही अधिक हुई है। जने द्र की स्वीकृति से इकार करना नये पुराने की खानेब दी का एक पहलू है दूसरा वैचारिक पहलू भी हो सकता है जिसमे सवेदन का यथाथ आत्मानुभूति का चित्रण आधुनिकता का ग्रहण मानव की स्वीकृति और कथ्य की प्रमाणिकता आदि शामिल है। मैं इन पहलुओ पर बाद मे विचार करूगा पहले जन द्र की नयी कहानी के सदभ मे अस्वीकृति पर कुछ चर्चा करना चाहता हू।

कहा जाता है कि स्वतत्रता प्राप्ति के बाद देश म वचारिक दृष्टि से भी नवीन युगबोध आया है। गणतत्रात्मक शासन की स्थापना के द्वारा वयक्तिक सत्ता फिर से उद्भूत हुई है और पुरातन परम्परावादी जडता से व्यक्ति ने अपने को छुडाने का स्वप्न ही नही देखा उपक्रम भी किया है। इस परिवतन का परिणाम यह हुआ कि विचार के सभी धरातलों पर पुनर्मूल्याकन प्रारम्भ हुआ और हमने उस प्रामाणिक माना जो हमारे मन मे विग्रह या सघष पदा करने वाला था। जो जडता से गृहीत होता आ रहा था वह स्वय छूटता सा दीखने लगा। जिनकी लखनी ने इन यथार्थवादी तत्वो को उनकी समग्रता मे ग्रहण किया व अपने लेखन मे प्रामाणिक और खरे माने गये, शष पुराने लेखकों को भोथरीधारवाले हथियार की तरह निकम्मा ठहरा दिया गया। यह निणय भी नये कहानिकारो ने स्वय ही कर लिया कि कौन आधुनिकता बोध स सयुक्त यथाथ

वादी प्रामाणिक लेखक हैं और कौन मौयरीधार वाला व्यक्तिगत कुठाओं एव विसगतियो से पीड़ित कर्दयित लेखक हैं। इन लेखकोपर यह आरोप भी लगाया गया कि य अपने समय और यथाय म डूबे न होने के कारण नितान्त पसनल, व्यक्तिगत स्वर से आपूण थे। इस काल के लेखको की रचनाओ को कविता के इतिहास के सदृश कहानी का रीतिकाल कहा गया। "लेखक की अपना दमित वासनाओ और कुठाओ से ग्रस्त उपजीवी पात्र (इस रीतिकालीन कहानी मे) अवतरित होने लगते हैं। क्रम से उद्भूत अपने परिवेश म सास लेता सामाजिक जड़ो वाला मनुष्य वहीं रुका रह जाता है और दीदी तथा भाभी या बहिन जी के रिश्त वाल व्यक्तियो म कामुकता कसमसाने लगती हैं। भाभीवाद और दीदीवाद का यह युग बीते अभी बहुत दिन नही हुए।'

स्पष्ट है कि ऊपर का यह उद्धरण जैने द्र क कथासाहित्य से चस्पा कर दिया जाता है और जन द्र नये कहानीकारो की दृष्टि म रीतिकालीन सवेदना वाले लेखक ठहरते हैं। मैं रीतिकाल शब्द से जो समझ पाया हूँ वह काम वासना या श्रृगार भावना की अभियक्ति के साथ नारियो के प्रति ललक का द्योतक है। नारियो की सृष्टि म यौन सम्बन्धो का उद्दाम वग भी रीतिकाल जसा ही इन कहानियो म होना चाहिए। कहा जाता है कि जने द्र के नारी पात्रो म यह दमित अतृप्ति, कामवासना की कसमसाहट है उनक त्याग या समपण म कोइ उदात्त भाव नहीं है। मैं शब्दो की बहस म न पडकर केवल इतना कहना चाहता हूँ कि जने द्र क विचार दशन को न समझ कर उनक नारी पात्रो म केवल कामुकता देखपाना एकागी दृष्टि या पक्षपातीय दृष्टि का फल है। जने द्र क नारी पात्रो का देह-समपण भी एक विशिष्ट भूमि पर हुआ है और वह पीडा के दश को उभारने क साथ चुनौती भी लेकर आया है। यदि रीतिकालीन श्रृगार भावना जने द्र की अभीष्ट होती तो वे प्रेमचन्द स पहले के कथा साहित्य मे जीवित रहते द्विवेदी युग से भी पहले के लेखक म फेंक दिय जाते प्रेमच दोत्तर कथा सृष्टि क अग्रदूत न बन पाते।

रोमानी अनुभूतियो का चित्रण कथा साहित्य का वण्य विषय रहा है। आज के नये कहानीकार भी इसे बचा नहीं पाये हैं। मैं समझता [redacted] कि इसे

का सचार होता है। यदि इसी भावबोध को आधुनिकता के लिए ग्रहण किया जाए तो जनेन्द्र भी आधुनिकता स दूर नही ठहरते। उन्होंने समाज के भीतर से व्यक्ति को पकडा है। व्यक्ति है तो समाज का सगठन भी बनता है। निर्वैयाक्तिक समाज सगठन की बात जनेन्द्र ने कही नही कही। फलत जनेन्द्र उस बोध स अवगत रहते हुए कहानी लिखते रहे हैं जो व्यक्ति को उद्वलित करता है और समाज को व्यक्ति माध्यम से आन्दोलित।

कभी कभी ऐसा भी होता है कि कहानीकार का अपना परिवेश उससे छूट जाता है और वह किसी कल्पित परिवेश को अकित करने मे लीन हो जाता है। रोमास और भावुकता पूर्ण कहानियो की चरम परिणति एसे अयथार्थ बोध म होती है जो केवल कल्पना की सासो के ताने बाने पर निर्भर करता है। कल्पना की यह रगीन दुनिया प्राय सभी लेखको क पास होती है किन्तु केवल रगीनी ही कहानी नही हो सकती। जनेन्द्र ने अपनी प्रारम्भिक कहानियो म कुछ रोमानी रगीनियां समेटी थी किन्तु उनका विचार पक्ष उन रगीनियो म डूब कर सोया नही था। जनेन्द्र की दृष्टि भले ही आधुनिकता के तथा कथित मूल्य पर न रही हो किन्तु सहज स्वाभाविक रूप स वे जो लिखते रहे थे वह विचारो की ऊहापोह स ओतप्रोत था और एक सीमा तक वह विचार आधुनिक कहा जा सकता है।

जिस सामाजिक चेतना को अत्यधिक स्पष्ट और उजागर करने का आग्रह आज का नया कहानीकार कर रहा है वह एक अर्थ म नयी अभिव्यक्ति है। मानव मानव क बीच उभरते आकार धारण करते या टूटते सम्बन्धो को उनके सभी सभाव्य सन्दर्भों मे अकित करना कहानीकार के लिए आवश्यक हो गया है। सामाजिक चेतना को नये भावबोध का आकार बनाते ही रूढिया वर्जनाओं अन्धविश्वासो जडमान्यताओ और मिथ्याचार सहिताओ का खोखलापन उद्घाटित करना आज क रचनाकार के लेखन क्रम मे समाविष्ट हो जाता है। जनेन्द्र का स्वातन्त्र्य पूर्व कहानियो मे इस प्रकार की अनेक चुनौतियाँ हैं जो रूढ और जड का खड खड कर समाज क परम्परामुक्त मार्ग को बदलने का सकेत देती हैं। जनेन्द्र ने यह चुनौती न तो किसी पूर्व निश्चित योजना के

रूप में प्रस्तुत की है और न उनका ध्येय यह रहा है कि सामाजिक चेतना की स्थापना के लिए कहानी लिखी जाए। कहानी लिखी गई और जो कुछ कहा गया उसमें से यदि कोई चुनौती, प्रहार या आक्रोश निकल सका है तो वही स्वाभाविक है, कहानी की वही सहज परिणति है।

जैनेन्द्र की कुछ कहानियों में कतिपय सैद्धान्तिक तत्व भी ढूंढे जा सकते हैं। कोई उनकी कहानी को पढ़कर शायद उन्हें सत्याग्रही ठहरा दें, कोई उनकी अहिंसक वृत्ति का संधान करे, कोई कह सकता है कि जैनेन्द्र नैतिक मूल्यों की परीक्षा का उपक्रम करते हैं। कोई कहेगा कि जैनेन्द्र गांधीवाद की स्थापना के लिए चरमअहिंसा की कल्पित कल्पना करते हैं। किसी का मत होगा कि जैनेन्द्र ने अपनी वैचारिक सम्पदा को उलझे हुए रूप में कथा में ढाला है जो पाठक के लिये कम और स्वयं लेखक के लिए अधिक है। इसी प्रकार के और भी अनेक आरोप अभियोग जैनेन्द्र की नयी पुरानी कहानियों पर थोपे जा सकते हैं। जैनेन्द्र इन आरोपों का उत्तर प्रतिवादी बनकर नहीं वरन केवल एक और कहानी लिख कर चुपके से प्रस्तुत कर देते हैं। 'विज्ञान और अविज्ञान' शीर्षक कहानियाँ उनके भीतर के मथन का प्रतिफलन तो है ही किन्तु वे आज के नैतिक मूल्य एवं आधुनिक बोध को भी स्पष्ट करती हैं। विज्ञान केवल देह की माप पर टिकी है आत्म की माप विज्ञान की न तो अभीष्ट है और न शायद उसके लिए संभव हो। जो कुछ मापा जा रहा है वह विज्ञान की अपूर्ण दृष्टि का प्रतिफलन है। पार्थिव दृष्टि को इस कहानी में लेखक ने नयी जिन्दगी के परिप्रेक्ष्य में रख कर आंका है। इस कहानी के द्वारा भी जैनेन्द्र ने एक सत्य का इंगित किया है, सत्य का प्रतिपादन न तो उन्हें अभीष्ट और शायद पाठक को ही अभिप्रेत हो। चुटीला संकेत प्रतिपादन से कहीं बढ़कर है।

आज के कहानीकार यथार्थ चित्रण पर अधिक बल दे रहे हैं। उनका कहना है कि हमारी कहानी प्रामाणिकता पर आश्रित है। कल्पना के मोहक चित्र, जिन्हें मिथ्या चित्र कहना अधिक संगत होगा, आज की कहानी में नहीं है। जैनेन्द्र ने इस सम्बन्ध में किसी अविवादी स्थिति को स्वीकार नहीं किया। यथार्थ चित्रण के लिए जैनेन्द्र ने किसी भी आरोपित मर्यादा अर्थात् प्रामाणिकता

आदि का दम नही किया। जनेन्द्र का कहना है "जो हो रहा है या और जो हम चाहते हैं इन दोनो के मध्य सदा व्यवधान रहता है। लेखन का सारा व्यापार इस व्यवधान म चलता है। इच्छा भावना और कल्पना, रचना के अनिवाय तत्व हैं। जो है और होना चाहिए इनके द्वद्व मे से ही लेखन की प्रेरणा उद्भूत होती है। यह कैसे हो सकता है कि यथाथ म मैं सौ फीसदी सिद्ध अनुभव करू। कारण, मैं चाहता अवश्य उसस अधिक जो हू। जिसे सौ फीसदी यथाथ कहा जाना वहाँ कामना और घटना के बीच अतर नही रह जाना चाहिये। लेकिन क्या ऐसी स्थिति बन पाती है? यदि बनती मान ली जाए तो वहाँ समय समाप्त हो कर रह जायेगा। दूसरे शब्दो म पुरुष का अथ पुरुषाथ मृत हो जायगा। कुछ है जो यथाथ चित्रण से परे है उसका सकेत साहित्य म अनिवाय है। जो सर्वांगत यथाथ चित्रण का दावा करते है वे जानते नही कि शायद वे दभ कर रहे है। प्रत्येक यथाथ के धारण म लेखक स्वय भी रहता है। अत वह यथाथ को अपने मन मे से गुजार कर ही प्रस्तुत कर पाता है। यदि मेरे मन से किंचित रचकर यथाथ आया तो वह सवथा निरपेक्ष यथाथ कैसे हुआ। यथाथ के भेद प्रभेद इसी तथ्य का सकेत करते हैं। कोई लेखक केवल बाह्य यथाथ के आधार पर नही लिख सकता। ऐसा हो तो उसमें सवेदन की यथावश्यक मात्रा न आ पायगी। लेखन के लिए अनुभूति की अनिवायता सदा बनी रहेगी और वह नितात निस्सग यथाथ चित्रण के लिए चुनौती होगी। परम सत अनुपलभ्य अर्थात आदश माना गया है। उस कथ्य म यही सार है।"

आज की नयी कहानी म अकहानी या एटीस्टोरी जसी विधा की चर्चा भी सुनी जाती है। शायद इसके मूल म यही है कि नानी दादी की भुलावे की या रोमानी तज की कहानी को विचार प्रधान कहानी ने मच स हटाया था। अब विचार का तन्तु इतना क्षीण हो गया कि घटना की किसी योजना की भी उसे आवश्यकता नहीं रह गई है। कहानी के अनादि इतिहास म यह एटीस्टोरी कहीं फिट बठगी इस पर अभी तात्विक दृष्टि स विचार नहीं हुआ है। फिर भी अकहानी या ऐटी स्टोरी की चर्चा आज होती रहती है।

जैनेन्द्र इस शब्द को स्वीकार करने के पक्ष मे नही है। उनकी मान्यता है कि कहानी अपनी विधा मे परिवर्तन करती रही है। किसी एक लीक पर कहानी चले, ऐसी विवशता उसकी नही है। किन्तु वह एंटी होकर स्टोरी, या कुछ भी, सार्थकता प्राप्त करे, यह भी सभव नही है। हा अकहानी शब्द से सार अर्थ निकल सकता है वह यह कि घटनाओ मे हठ पूर्वक सयोजन न हो, यही शायद एन्टी स्टोरी का आशय हो। आग्रह पूर्वक घटनाओ को जुटाने और उनमे फिर तुक डालने के भी मैं विरुद्ध हूँ। सयोजना तो ठीक है, किन्तु हठपूर्वकता से किया गया सयोजन कहानी के स्वरूप को दबोचने वाला होता है।" इस सदर्भ मे जैनेन्द्र अपनी एक कहानी को उदाहृत करते हैं। उनकी 'इक्के में दीपक' कहानी सयोजनविहीन कहानी है। कथा का चौखटा कस कर किसी सयोजन को यत्नपूर्वक उसमे नही रखा गया है। लेकिन सयोजन के बाद कहानी का यहाँ अभाव है ऐसा जैनेन्द्र नही मानते। उनका कहना है कि मुक्त मानसिकता के आगे यह कहानी एक प्रश्नचिह्न छोड जाती है। अर्थात आशय का अभाव वहा प्रतीत नहीं होता और सयोजन ही कहानी को सार्थकता प्रदान करता है।

कहानी मे गति और स्पन्दन की उपस्थिति वस्तुनिर्भर नही होती। भाव वस्तु नहीं है। ऐसी अनेक कहानियाँ जैनेन्द्र ने लिखी हैं जिनमे भाव ने ही वस्तु का रूप ग्रहण कर लिया है। भूतवाली उनकी प्रसिद्ध कहानी म वस्तु का व्यक्त ढाँचा नहीं है। किन्तु वह कहानी गतिशीलता से स्फूर्त है, अत घटना के अभाव म भी वह कहानी है। अकहानी उसे नही कहा जाएगा जिस कहानी म घटना निर्भरता न हो, क्या वह कहानी नही होगी। अगूर का छिलका पतला होता है, लेकिन छिलका होता है। कहानी की घटना भी छिलके के सदृश ही है जितना सूक्ष्म वह छिलका होगा अगूर उतना ही अच्छा होगा। जैनेन्द्र की मान्यता है कि कहानी वस्तुत शब्दार्थ का माध्यम नही लेती उसका तो माध्यम शब्द चित्र है। मन में चित्र अकित हो जाता है और कहानी रूप धारण करती जाती है। शब्द के अभिप्राय के माध्यम से विस्तार करना लेख या निबध लिखना है। इसलिए अकहानी म शब्दविस्तार न्यून और चित्राकन अधिक हो तो ठी

हो है, किन्तु उसे अकहानी कह कर रेखाबद्ध करना जैनेन्द्र का प्रिय नहीं है ।

कहानी के शिल्प के सम्बन्ध म जनेन्द्र के विषय म प्रारम्भ से ही विचित्र धारणाएँ बनती बिगड़ती रही है। कुछ समीक्षकों का मत रहा है कि जनेन्द्र शिल्पराङमुख हैं। दूसरे कहते हैं कि जनेन्द्र की चेतना शिल्प को अपनी पद्धति से नया रूप देती रही है, वे एक सफल एवं सचेत शिल्पी हैं। आज की कहानी में रूपहीनता को अधिकाधिक प्रश्रय मिल रहा है। उसका शिल्प वस्तु के साथ संश्लिष्ट होकर शिल्पहीनता का रूप धारण करने लगा है। जनेन्द्र इस रूपहीनता को स्वीकार नहीं करते। कहानी का रूप, आकार ही उसका कलेवर था, शिल्प है। वणमाला के अक्षरों में जिस प्रकार नया कहानीकार परिवतन नहीं करता उसी प्रकार वह रूप की भी उपेक्षा नहीं कर सकता। मौलिक लगन में वस्तु और शिल्प की अभिन्नता तो अनिवाय है और वह सहज भाव से अपना स्थान बना लेती हैं। वस्तु और शिल्प दोनों रचनाकार में संश्लिष्ट अनुभूति से जुड़ जाते हैं अतः इन्हें अनायास सिद्ध मानना चाहिए। अमौलिक लेखक रूप शिल्प को लेकर नाना प्रयोग करते हैं किन्तु उपलब्धि नहीं पाते। लेखन म फाम प्रतीत होने भी रह न जाय यह चेष्टा आग्रही और आबद्ध चेतना की परिचायक है। फाम के प्रति निश्चिन्तता निराग्रह मुक्त चेतना का धम है। रचनाकार के भीतर जो उपलब्ध है उसको प्राप्त करने और प्रेषणीय बनाने म जो आयास हैं वही शली और शिल्प का स्रष्टा है कि यास इसी म से निर्माण पाता है। अत उसे त्याज्य क्यों समझा जाए। जनेन्द्र इसी सहज और अनिवार्य फाम को मानते हैं, इसस अधिक शली शिल्प का कोई साँचा होता है तो जनेन्द्र उसकी चिन्ता नहीं करते और उसे जानने का प्रयत्न भी नहीं करते।

मैं इस पुस्तक म जैनेन्द्र को विचार धारा को पूर्णता के साथ प्रस्तुत करने का दावा नहीं करता। जनेन्द्र का विचारक रूप दशन की सीमाओं तक फैला है जिसे जनेन्द्र भले ही अंगीकार न करें किन्तु हिन्दी का पाठक उसे जानता है। मैंने तो केवल कहानी के संदभ म कुछ बातें ऊपर की पंक्तियों में लिखने की चेष्टा की है। हो सकता है कि मेरे चिन्तन को जनेन्द्र एक झटके के साथ अस्वीकार कर दें और कह दें कि मैं तुम्हारी मान्यताओं का अनुमोदन नहीं करता—मैं वह

नहीं हूँ जो तुम समझते हो।" ऐसी स्थिति में दयनीय तो मैं हो ही जाऊंगा और शायद पाठक की दृष्टि में एक सीमा तक हतप्रभ भी माना जाऊं। लेकिन भूमिका लिखने का अधिकार पाकर मैं वह सब कहना अपना कर्त्तव्य समझता हूं जो ईमानदारी के साथ अनुभव करता हूँ। मैंने जैनेन्द्र की कहानी-कला पर यह भूमिका नहीं लिखी है—मेरी दृष्टि तो आज की कहानी के संदर्भ में जैनेन्द्र की कहानी पर रही है। इसलिए इस भूमिका का क्षेत्र अत्यन्त सीमित और सलक्ष्य रहा है।

कहानी के परिवर्तित होते रूप प्रतिपाद्य, शिल्प शैली आदि पर अनेक समीक्षकों के लेख प्रकाशित हुए हैं। जैनेन्द्र से भी अनेक आलोचकों और पाठकों ने प्रश्न पूछे हैं जो इस पुस्तक में संकलित हैं। मैं समझता हूँ उन प्रश्नोत्तरों में पाठक को बहुत कुछ मिलेगा जो मेरी भूमिका में नहीं है। जैनेन्द्र से सीधे बात करने और उनके मन्तव्य को जानने के लिए मैं पाठक से अनुरोध करूंगा कि वह जैनेन्द्र के उत्तरों में प्रवेश करें। जैनेन्द्र को पा लेना दुष्कर है ऐसा बहुत लोग मानते हैं—मैं इस पूर्वग्रह से मुक्त हो कर पाठक से अनुरोध करता हूँ कि वे इस पुस्तक का अनुशीलन करें। समग्र जीवन दृष्टि से अनुस्यूत जैनेन्द्र के ये उत्तर पाठक को कहानी के माध्यम से बहुत कुछ ज्ञातव्य दे सकेंगे। इस पुस्तक में भिन्न भिन्न समय के प्रश्नोत्तर संकलित किये गये हैं अतः कहीं कहीं पुनरावृत्ति का आभास मिलेगा किन्तु बहुत बड़ा भेद कहीं नहीं है। जैनेन्द्र ने बीस वर्ष पहले जो मौलिक लेखन के रूप में स्वीकारा था आज बीस वर्ष बाद उसे नकारा नहीं है। जैनेन्द्र के चिन्तन में ज्यों ज्यों गहराई आई है त्यों-त्यों वे तत्त्व के समीप ही पहुँचे हैं यही कारण है कि बाह्य विधान या शिल्प शैली पर उनका आग्रह नहीं रहा। वे विज्ञान या पार्थिवता से अभिभूत नहीं हुए—सहज रूप से विधान को स्वीकार करने पर भी उनके भीतर पदार्थ से ऊपर देखने का आग्रह निरन्तर बना रहा है यही उनके चिन्तन की समृद्धि का द्योतक है। जैनेन्द्र अस्तित्ववादी नहीं, अस्ति को पकड़ने वाले आस्तिक हैं। अतः उनकी कहानी का बोध आधुनिकता के किसी सीमित आयाम में न बंधकर व्यापक आस्तिकता के बोध से जुड़ा रहता है। इसे समझ लेने पर जैनेन्द्र के कहानी विषयक विचार किसी भी निकष पर

कहे जा सकते है। इस पुस्तक मे सकलित प्रश्नोत्तरो मे भी जैनेन्द्र की कहानी रचना प्रक्रिया का स्वरूप समझा जा सकता है। यही इस पुस्तक की सार्थकता है।

●●●

अपनी कैफ़ियत

मेरा कहानी लिखना कैसे शुरू हुआ, यह याद करता हूँ तो विस्मय होता है। विस्मय शायद इसलिए कि औरों की बात मैं नहीं जानता। मेरा आरम्भ किसी तैयारी के साथ नहीं हुआ। जब तक चाहता रहा कि कहानी लिखूँ तब तक सोचता रह गया—'कैसे लिखूँ ?' और जब लिखी गई, तब पता भी न था कि यह कहानी है।

बात यों हुई। वक्त खाली था और मैं नहीं जानता था कि अपना क्या बनाऊँ। दुनिया में एक माँ की मार्फ़त मेरा नाता था। शेष में दुनिया अलग थी और मैं अपने में बंद अलग था। एक बूंद अलग हो कर सूख ही सकती है, मैं भी सूख ही रहा था।

पर ज़िन्दगी एक अकेले तो चल ही नहीं सकती। निबाह को कुछ तो चाहिए। उसके लिए कमाई चाहिए। तेईस चौबीस बरस की उमर हो जाय तो आदमी को कुछ करने की सुध लेनी चाहिए। सुध तो लेता था पर जुगत कुछ न मिलती थी। नतीजा यह कि दिन के कुछ घण्टे तो लाइब्रेरी के सहारे काटता था, बाक़ी कुछ ख़ामख़्याली और भटरगश्ती में।

इस हालत में पहली जो कहानी हुई वह यों कि एक पुराने साथी थे, जिनका ब्याह हुआ। भाभी पढ़ी लिखी थीं। पत्रिका पढ़ती थीं और चाहती थीं कि कुछ लिखें जिससे उनका लिखा छपे और साथ तस्वीर भी छपे। हम भी मन ही-मन यह चाहते थे। दोनों ने सोचा कि कुछ लिखना चाहिए। तय हुआ कि अगले शनिवार का दोनों को अपना लिखा हुआ एक-दूसरे के

सामने पेश करना होगा। शनिवार आया और देखा कि उनकी कहानी तैयार थी। हमें कुछ बात पकड़ न आ सकी थी कि लिखा जाता। ऐसे एक हफ्ता दो हफ्ता निकल गये। भाभी तो भी कुछ न कुछ लिख जाती थीं यहाँ दिमाग दुनिया भर में घूमकर कोरा का कोरा रहता था। हम अपनी इस हार को लेकर मन ही मन आछे पड़े जा रहे थे। होते होते हम जड़ हो गये, सोच लिया कि कुछ अपने से होने हानेवाला नहीं है। यह अपना निकम्मापन इस तरह तय हो चुका था कि एक दिन घटी एक दिलचस्प घटना को हमने ज्यों का त्यों कागज पर उतार डाला। जाकर भाभी को सुनाया। घटना भाई साहब और भाभी को लेकर थी। भाभी लजाई मगर खुश भी हुई। मैं मानता हूँ कि वह पहली कहानी थी जो फिर जाने क्या हुई।

दूसरी तीसरी और चौथी-पाँचवी कहानियों का आलम यों बना कि एक मित्र सन २० २१ की गर्मा गर्म देश सेवा के बाद सन् २६ २७ होते होते खाली हाथ हो गये। अब क्या करें? जमने की जगह हो तो नेतागिरी के काम की भी सुविधा हो जाए। यों आँधी के वक्त की बात दूसरी है, ठंडे वक्त की दूसरी। सो मित्र—बड़े विलक्षण बड़े योग्य—अन्त में शायद पच्चीस रुपये पर एक पाठशाला में मुख्य अध्यापक हुए। पाठशाला छोटी थी पर उनके ख्याल बड़े थे। महाशय ने तीसरी चौथी क्लास के विद्यार्थियों को लेकर वहाँ एक हाथ लिखी पत्रिका निकालनी शुरू की। मुझे लिखा कि उसमें तुम भी लिखो। कहीं पता होता कि यह तो लेखक बनने का रास्ता बन रहा है तो मेरा जी डूब जाता। सच कहता हूँ मैं ऐसी दुस्सम्भावना का बोझ तब नहीं उठा सकता था। सो मित्र का खत आता और मैं जवाब लिख भेजता। जवाब जरा लम्बा भी हो जाता और सूझ में जो उलझना, आँक देता। इस तरह शायद छः महीने हुए होंगे कि मित्र का वहाँ से पत्ता कट गया। निकले तो साथ अपनी हाथ लिखी पत्रिका के अंक भी उठाते लाये। उन दिनों एक हितैषी बुजुर्ग कभी-कभी घर पधारा करते थे। ठाली उत्सुकता में पत्रिका के अंक उ होंने देखे और कहीं जा रहे थे तो साथ लेते गये।

चलो छुट्टी हुई। लेकिन दो एक महीने बाद लाइब्रेरी में बैठा हुआ देखता क्या हूँ कि 'विशाल भारत' में 'श्री जिनेन्द्र' की कहानी छपी है 'खेल'। यह 'खेल' तो जरूर मेरा है—तो क्या 'विशाल भारत' में छपनेवाला 'श्री जिनेन्द्र' मैं ही हूँ। दिल उठता था और गिरता था। जाने किस घड़ी वह कहानी लिखी गई थी, खेल कि अब कई जगह छपी देखता हूँ कि वह 'एक चीज' है। क्यों न हो, लोग कहते हैं तो शायद होगी वह 'चीज'। पर सच मानिये, यदि उसके भी चीज होने का जरा भी गुमान होता तो 'खेल' या वह खेल जैनेन्द्र से न हो पाता।

कहानी का लिखना तो ऐसे शुरू हुआ, पर उसके कुछ काल जारी रहने का भेद दूसरा है। वह रहस्य यह कि शायद 'खेल' के ही पारिश्रमिक-स्वरूप 'विशाल भारत' से चार रुपये का मनीआर्डर चला आया। मनीआर्डर क्या आया मेरे आगे तो तिलिस्म खुल गया। इन तेईस चौबीस बरसों को दुनिया में बिता कर भी मैं क्या तनिक उस द्वार की टोह पा सका था कि जिसमें से रुपये का आवागमन होता है। रुपया मेरे आगे फरिश्ते के मानिन्द था, जिसका जन्म जाने किस लोक का है। अवश्य वह इस लोक का तो है नहीं। वह अतिथि की भाँति मेरे 'खेल' के परिणामस्वरूप मेरे घर आ पधारा, तो एकाएक मैं अभिभूत हो रहा। मेरी माँ को भी कम विस्मय नहीं हुआ। तो बेटे के निकम्मेपन की भी कुछ कीमत है! माँ से ज्यादा बेटा अपने निकम्मेपन को जानता था। पर 'विशाल भारत' के मनीआर्डर से मालूम हुआ कि आदमी अपने को नहीं जान सकता। दुनिया अति विचित्र है और जाने यहाँ किसका क्या मोल लग जाय। मोल भाव यहाँ असली है नहीं इस लिए उनकी तोल भी मनमानी है।

खैर, फिर तो कुछ और भी लिखा। उसी जमाने की एक बात याद आती है। पाठशाला वाले मित्र के पहले खत के जवाब में मैंने कुछ लिखना शुरू किया। उस कथा में एक पब्लिक लीडर मंच पर आते हैं जो भारत माता की याद अंग्रेजी में ही कर पाते हैं। कहानी पूरी हुई तो मालूम हुआ कि अपनी भारतमाता की भक्ति तो खासी ऊँची अंग्रेजी में वह महोदय कर

गये हैं—तीसरी चौथी क्लास के बच्चों की समझ तक वह कैसे उतरेगी ? इससे उस रचना को मैंने अपने पास रोक रखा दूसरा कुछ और लिख भेजा। पहली रचना का शीर्षक दिया गया था 'देशप्रेम'। वह मेरा 'देशप्रेम' एक दिन दिल्ली के एक मासिक पत्र के कार्यालय में मेरे हाथों से छिन गया। पर तीन-चार महीने हो गये उसकी सूरत उस पत्रिका में देखने में नहीं आई।

मैं डरते-डरते कार्यालय में पहुँचा। सपादक, जो मालिक भी थे, बोले कि आपका लिखा हुआ साफ नहीं था और अशुद्ध भी था। अत हमारे सहायक गये तो उसे साथ ले गये थे। देखिये अभी इस डाक से उसकी शुद्ध प्रतिलिपि भेजी है। अब अगले अक में वह आ रहा है।

मैंने रचना देखनी चाही तो सपादक ने मेरे हाथों में दे दी।

मैंने खडे-खडे उसे उलटा पुलटा कि मस्तक हाथ में लेकर वापस कुर्सी मे आ रहा। देखता हूँ कि सचमुच ही रचना को एकदम शुद्ध बना दिया गया है।

मैंने सपादक से कहा कि यह रचना मुझे ले जाने दीजिये कारण निस्सदेह वह शुद्ध तो है पर वह मेरी नहीं रही है। अपने से अधिक शुद्धता मेरा नाम कैसे उठा सकेगी ?

सपादक हँसकर बोले, जैसी आपकी इच्छा। ले जाइये। लेकिन आपकी एक कहानी तो हमारी हो चुकी है यह ले जा सकते हैं। लेकिन दूसरी देनी होगी, और कल नाम तक मिल जानी चाहिए।

मैंने कहा कि यह कैसे सभव है ?

बोले तो रहने दीजिए यही छप जायगी।

मैंने कहा कि इतनी शुद्ध होकर यह मेरे नाम से कैसे छप सकती है, क्योंकि मैं कहाँ उतना शुद्ध हूँ ?

बोले, तो कल दफ्तर के समय तक दूसरी रचना देने का वायदा कीजिये।

आप कहेंगे कि क्या वह रचना खरीद ली गई थी ? नहीं, पर पैसे के अधिकार से बड़ा प्रेम का अधिकार होता है। सपादकजी का, जो कि मालिक भी थे, मेरी उस रचना पर वही अधिकार था।

मैंने कहा कि अच्छा, कोशिश करूंगा।

बोले, कोशिश नहीं, वायदा कीजिये। कल चार बजे तक पहुँचा देने का वायदा करें तो यह ले जा सकते हैं।

मेरी हालत दयनीय थी। लेखक को दयनीय होना भी चाहिए। उसका अधिकार केवल कर्त्तव्य है। लेकिन मैं अतिपरिशुद्ध अपना वह 'देशप्रेम' वहाँ कैसे छोड़ सकता था ? उस 'देशप्रेम' को अच्छी तरह काटा छीला गया था। मुझे तो ऐसा लगा कि मरम्मत से जगह जगह उस बेचारे देश प्रेम में लहू की लाली उभर आई है।

सपादक जी बोले कहिये वायदा करते है ?

अपने देश प्रेम की बेहद छिली और रँदी दशा को देखते हुए नीची आँखों से मैंने कहा, अच्छा !

सपादक जी बोले, तो खुशी से ले जाइए।

यह सुनते ही उस देश प्रेम को मोड़ माड़कर जेब मे डाल मैं तत्काल कार्यालय से बाहर आ गया।

यह लगभग शाम का समय था। गर्मियों के दिन थे। घर आया, खाना खाया कोठरी से निकाल कर खटोली खुले खँडहर पर बाहर डाली और सोचने लगा कि कल क्या करूंगा। मन एक बोझ से दबा हुआ था और कल्पना उड़ न पाती थी। रात हुई और उसी खडहर पर खटिया डाले ऊपर देखता मैं पडा रहा। मेरे और तारों के बीच केवल शून्य था। ऐसे समय मुझे नेपोलियन का नाम याद आया। क्या वह सफल हुआ ? उसका जीवन सार्थक हुआ ? क्या वह तृप्ति लेकर गया ? क्या उसम या किसी मे अपने आदर्श को बिठाया जा सकता है ? क्या आदर्श को अपने से बाहर रख कर देखना होगा ? आदर्श को अपने से दूर, अलग, किसी दूसरे म आरोपित करने से चलेगा ? नहीं

ऐसे खयाल पर खयाल आते रहे। इन्ही के बहाव मे मन मे उठा कि अच्छी बात है, एक पात्र उठाया जाय जो नेपोलियन मे अपना आदर्श डालकर चले। दूसरा उसके मुकाबले का पात्र हो जो अपने आदर्श के बारे में मुखर न

हो। ये दोनो फिर आपस मे दूर न हो, बल्कि घनिष्ठ हो पर ये सब विचार आपस में ऐसे धुले मिले घुमिल थे कि वे थे ही, यह भी कहना कठिन है। सब कुछ वायव्य ही था।

इसी हालत मे धनै सनै नींद आ गई। सवेरे उठकर निवृत होना था कि याद आया, चार बजे तक कहानी पहुँचानी है। मन को झुंझलाहट हुई। उसने विद्रोह करना चाहा। पर अपने से कोई बचाव न था, कारए मुझमे असली ताक़त ही न थी। इसलिए वचनबद्धता की जकड मुझसे टूट न सकती थी। अत लिखने बठना पडा। उस समय रात की उठी हुई अस्पष्ट सी घुमडन सूझ आई। बस उसका सहारा थाम मैं लिख चला। अत मे पाया कि स्पर्द्धा कहानी बन गई है।

वह कहानी वान वान कसे बनती गई और उसके उपकरण कसे-कसे लिखने क साथ साथ मन म और मस्तिष्क मे जुटते चले गये—उस विषय को यहाँ छोडे देता हू यद्यपि कहानी के अवतरण निर्माण को स्वय समझने की दृष्टि से वह विषय काफी सगत है।

खर, कहानी हुई और उसे गुडी मुडी कर मैंने जेब मे डाला। कहानी जसी जो स्लिप आई—लम्बी, कम लम्बी छोटी—उसी पर लिखी गई थी। इससे वह लपटी ही जा सकती थी उसकी तह नहीं की जा सकती थी।

उस रोज ठीक याद नहीं पडता कि क्यो, पर पाँच रुपये की मुझे बेहद जरूरत थी। माँ से माँग नहीं सकता था। वे पाँच रुपये अपने लिए नहीं किसी और ही जरूरी आवश्यकता के लिए चाहिए थे। खर तीसरे पहर का समय और मैं चला पदल।

फतेहपुरी पर मुझे भाई ऋषभचरण मिले। बोले, कहाँ! कहाँ जा रहे हो?—ओ, यह जेब आज कस फूली हुई है? और देखते-देखते जेब से लिखे कागजो की रील उन्होंने निकाल ली।

ओफ़्फ़ोह, कहानी है! तो कहानी लिखी है! कहाँ ले जा रहे हो?

मैंने बताया कि अमुक कार्यालय म ले जा रहा हूँ और ५ रु० की जरूरत

है। सोचता हूँ कि कहूँगा कि उधार ही सही, इस कहानी पर पाँच रुपये ही दे दें तो एहसान हो।

ऋषभ भाई की सलाह थी कि मैं ऐसा न करूँ, क्योंकि उससे कोई फ़ायदा न होगा।

खर पहुँच कर कहानी की रील सम्पादकजी को दिखलाई और ५)रु० की अपनी गरज भी जतला दी। सपादकजी लेखकों को पारिश्रमिक अवश्य और काफी परिमाण म दे देना चाहते थे। बस, प्रतीक्षा यह थी कि पत्रिका नफा देने लगे। तब तक मन पर पत्थर रखकर उन्हें अपनी असमर्थता प्रकट करनी ही पडेगी।

मैं नहीं जानता कि तब ऐसी अटक मुझे क्या आ गई थी। मैंने कहा कि मैं तो उधार चाहता हूँ। पर सपादकजी असमर्थ ही थे। उन्होंने कहा कि आप चाहें तो कहानी ले जाइये यद्यपि देखा जाय तो कहानी हमारी हो चुकी है। पर क्या कहूँ, कहानी पर पैसा देने की स्थिति तो बिल्कुल नहीं है।

लौट आया और वह कहानी फिर शायद एकाध महीने मेरे पास ही पडी रही। फिर एक दिन कमर म साहस बाँधकर मैंने क्या किया कि अपनी उस 'स्पर्द्धा' को प्रेमचन्दजी के पते पर रवाना कर दिया। साथ ही एक पत्र लिखा कि 'माधुरी' सपादक नहीं कहानी-सम्राट प्रेमचन्द को यह भेज रहा हूँ और छपने के लिए नहीं बस कुछ जानने भर के लिए यह साहस बन पड रहा है।

डाक मे डालकर धडकते मन से जवाब का इन्तजार करने लगा। छ सात दिन म छपा काड आया, जिसमे लिखा था कि कहानी सधन्यवाद वापस की जा रही है। कहानी की वापसी पर चाहे मन से खिन्न हो होना चाहा, पर उसके सधन्यवाद ने उस पानी-पानी कर रखा। पत्र पर प्रेमचन्दजी के दस्तखत न थे।

चलो, बखेडा कटा। जिन्दगी की मुक्ति मौत में है और आशा की सफलता निराशा मे। पर हाय राम, कागजो की सबसे पिछली स्लिप की पीठ पर फीकी स्याही म अंग्रेजी मे यह मैं क्या लिखा देखता हूँ ? हो-न हो, ये प्रेमचन्द के अक्षर है। लिखा है—*Please ask if this is a translation*

कहना चाहिये कि प्रेमचन्दजी के परिचय का द्वार उस राह से मेरे लिए खुला। मैंने उस पर उन्हें कुछ नहीं लिखा। सिर्फ कुछ दिन बाद एक दूसरी कहानी भेज दी। 'स्पर्द्धा' कहानी के पात्र विदेशी थे और ढंग विदेशी था। उसकी एक लाचारी हो गई थी। दूसरी कहानी आस पास को लेकर थी। बस, उस अधेरे के भेद से चिट्ठी पत्री शुरू हो गई।

यहाँ शायद आप प्रेमचन्दजी की कहानी कला पर कुछ कहने की मुझसे अपेक्षा रखते हो। सचमुच मैं अधिक नहीं कह सकता। मैंने पहले ही निवेदन कर दिया था। अपनी कैफियत देने के सिलसिले में कुछ आ जाय तो आ सकता है।

प्रेमचन्द जी को मैं कहानी की कला के विषय में बात करने तक कभी न ला सका। यों तो कोशिश भी विशेष न की पर जब उस तरह की बात आयी वह टाल ही गये। कहानी उनके लिए निर्जीव तत्त्व न थी। इसस उसकी टेकनीक पर रस के साथ वह चर्चा भी क्या कर सकते थे! कहानी में मानव चरित्र और मानव हृदय उनके लिए प्रधान था। लेखन सम्बन्धी दूसरी कला-शिल्प की बातें एकदम गौण था।

एक बार प्रेमचन्द ने कहा, जैनेन्द्र उपन्यास लिखो। मैंने कहा कैसे लिखूँ? बोले अरे घर में नाते रिश्तेदार जो हों, बस, उन्हीं को लेकर लिख दो।

यह बात आज भी मुझे याद है। मैं नातेदारों को लेकर नहीं लिख सका न ही लिख पाता हूँ यह बात बिल्कुल अलग है। लेकिन प्रेमचन्दजी की सलाह पक्की है और सच्ची है। यानी प्रेमचन्द को वह सही-सही व्यक्त करती है। प्रेमचन्दजी की कला का मूल उनकी उस सीख में बसा है। दूर कहाँ जाना है। आस पास के जीवन में ही जो जीते जागते व्यक्ति तरह-तरह के स्वभाव लेकर तरह तरह के कर्म करते हुए निभ रहे हैं उनमें ही तुम क्या नहीं पा सकते हो? किसी परिवार को ले लो। तीन पीढ़ियाँ तो मिल ही जाती हैं। उनके जीवन-व्यापार पर अंकित है उन तीनों पीढ़ियों का इतिहास।

जीवन की गति के विकास का भी उसमे से खोया जा सकता है। उन्ही के सरिसृष्ट जीवन चित्र मे से नीति और दर्शन के निचोड को भी पाया जा सकता है।

मेरा अनुमान है कि उनकी कहानिया के चौखटे आस-पास के यथार्थ पर से उठाकर लिये गये हैं। उनकी कहानियों का प्राण व्यवहार धर्म है। उनके पात्र सामाजिक हैं। उनके चरित्र महान् इसलिए नहीं है कि प्रेमचन्दजी ने उन्हें महान् बनने देना नहीं चाहा है। सबके सभी गुण-दोषो के पुज हैं। किसी का दोष विराट अथवा कि इतनी सघनता से काला नहीं बन पाता कि उसी में चमक आ जाय, न किसी का गुण हिमालय की भांति शुभ्र और अलौकिक कांति देने वाला बन पाता है। औसत आदमी की सम्भावनाओं से परे उनके पात्र नहीं जाते। कल्पना को प्रेमचन्द उठने देते हैं, पर रोमांस तक नहीं उठने देते। जैसे उन्होंने अपने को एक कर्तव्य मे बांध लिया है और वह कर्तव्य उनका वर्तमान के प्रति है। मोक्ष से और मानव की भवितव्यनाओं की अमित सम्भावनाओं म उनका इतना सम्बन्ध नहीं है जितना कि मनुष्य-समाज और उसकी आज की समस्याओं से है। वह समाज हितैषिता से छूट नहीं सकते। यह उनकी शक्ति और यही उनकी सीमा है।

एक रोज बोले, जैनेन्द्र मुझ में प्रतिभा नहीं है। मैं तो प्लाड करता हू। महीने मे दो कहानी पूरी कर दू तो समझूं, बहुत हुआ। मुझमे वह वेग नहीं है जिसे प्रतिभा का लक्षण माना जाय।

इस वक्तव्य को भी मैं उनके व्यक्तित्व की दृष्टि से बहुत लाक्षणिक कह सकता हूँ। वह साधनापूर्वक साहित्यकार थे। साहित्य उनके लिए विनोद या विलास का रूप न था। वह कहानी गढ़ते थे, तयार करते थे उसे निकाल नहीं फेंकते थे।

मैंने उन्हें उपन्यास लिखते हुए देखा है। छोटी कहानी के बारे में तो नहीं कह सकता। शायद हो कि कहानी भी एक से अधिक बैठकों म वह लिखते हों। शायद उनके उपन्यास मे लिखने की पद्धति से कहानी के ढग पर

भी प्रकाश पडता हो। उनकी रफ पाण्डुलिपियो के शुरू मे अक्सर उपन्यास के कुछ परिच्छेदा या सिनोप्सिस मैंने देखा है। पात्रो के नामो की फहरिस्त कहीं-कहीं अलग लिखी मिली है। फिर उन पात्रो के अलग अलग चरित्रो की कल्पना को पल्लवित किया गया है। जसे —

दमय ती—साधारण सु दर। शील का गव रखती है। कम, पर तेज बोलने वाली। वात्सल्यमयी, पर ईर्ष्यालु इत्यादि।

इस प्रकार परिस्थिति से पृथक और पूव पात्र की रूप रेखा को निर्दिष्ट करके चलने म शायद प्रेमच द सुविधा देखते थे। उसी भाँति प्लाट का भी एक खाका बना लते थे। यानी, पूव परिस्थितियो मे से ही परवर्ती स्थिति पैदा होने दी जाय यह नही, बल्कि पूव और अपर ये दोनो स्थितियाँ पहल स निश्चित करली जाती थी। इसीलिए उनकी रचनाओ मे वसी सरलता नहीं है कि पात्र हाथ न आते हो बच-बच जाते हो, उनकी रेखाएँ काफी उभारदार हैं।

लेकिन जसा कि पहले कहा प्रमच द म एक बडी विशेषता थी। वह यह कि वह कथा रचना का अपने पास साँचा कोई नही रखते थे, न साँचे म होने मे विश्वास रखते थे। इसलिए यदि कभी मैंने नौसिखिये की भाँति चाहा भी कि हाथ पकड कर वह मुझे कहानी लिख चलना बताए तो उस दुराशा म उ होने कभी मरी सहायता नही की। और म मानता हू कि इस मामल म मुझे अपने ऊपर रहने देना, किसी तरह का आरोप मुझ पर न आने देना ही उनकी बडी सहायता थी।

अब मैं नही जानता कि मुझस अपने लिखने के बारे मे पूछा जा सकता है या क्या। पूछा ही जाय तो मैं उसका एक और चौक द उत्तर नही दे सकता। कुछ कहानियाँ बाहर स लकर भी लिखी हैं। जस कि एक अधा भिखारी गली म आ जाया करता था। मेरी भानजी, जो अब आकर तमीयत मे मुझसे भी बुजुग बन गई है बोली मामा, इस अ धे पर कहानी लिखो।

मैने कहा, अच्छा!

कहानी शुरू होने मे तो दिक्कत न थी। यानी कि मेरी जिन्दगी चल रही है उसके अपने दायरे और अपनी व्यस्तताएँ हैं उन दायरो को आ छूता है एक अधा भिखारी ! चलो, यहाँ तक तो जो घटा वही लिख दिया गया। आगे क्या किया जाय ? आगे जो भी हो, कल्पना के बल पर ही किया जा सकता था। इसलिए कुछ तो कल्पना को उस अधे के अतीत की ओर बढने दिया, और तनिक भविष्य की ओर कल्पना की आँखो से मैंने देखा कि उसके दो बच्चे हैं और पत्नी भी है । एक छोटी सी कोठरी मे रहता है जैसे-तैसे बच्चो का पेट पालता है। स्त्री ? नही, वह साथ नही है कैसे हो ? बच्चो के लिए भीख की रोटी काफी कहाँ होती है ! पेट के लिए हो भी जाय, पढाई के लिए ? इससे स्त्री को भी कुछ कमाई करनी चाहिए। और वह माँ बाप बेटे के लिए पेशा करती है। और हाँ, उसीने पति की आँखें फोडी हैं इसस वेश्या बन कर अपने को नरक मे डाले, यही उसने अपने लिए दड चुन लिया है। इत्यादि इत्यादि। बस, इस तरह वत्तमान पर जो वह अधा आया था, उसको तनिक अतीत और अनागत की ओर फला कर देखा कि कहानी हाथ आ गई। कहानी जीवन का इतिवृत्त ही तो है ! यानी उसम स्थिति से स्थितयतर इस प्रकार घटित होना चाहिए कि जीवन का अभाव तक उभरे। काल का कुछ स्पदन, कुछ तनाव अनुभव हो। वही तो कहानी का रस है ! वह घटित के द्वारा अनुभव कराया जाय, या चाहे तो बिना घटना के ही मम म उतार दिया जाय। अतएव ऐसी भी सफल कहानियाँ है जिनमे खोजो तो घटना तो है नही, फिर भी रस भरा और पूरा है।

ऊपर 'अधे का भेद' कहानी के उदाहरण म वास्तव घटना या यथाथ पात्र से कहानी आरम्भ हुई। पर मेरे साथ अधिकाश ऐसा नही भी होता है। जसे कि पहले स्पर्द्धा का जिक्र आ चुका है। वह एकदम विचार मे से बना ली गई रचना है। समूची कहानी जसे इस प्रतिपाद्य के प्रतिदान के लिए है कि आत्म को अमुक मून व्यक्ति या प्रतिमा म डालकर और फिर उसके प्रति अपना रूमानी सम्बध बनाकर चलना सफल नही होगा। वरच आदश की तो मौन एव तत्पर आराधना ही फलदायक हो पायगी। इस धारणा मे

से ही पात्र बन खड़े हुए और उनके घात प्रतिघात से कुछ घटना क्रम भी बन गया। मेरे मत से उसमे चरित्र प्रधान नहीं बल्कि परिणाम और भाव प्रधान है।

मैं नही कह सकता कि इस प्रकार लिखी गई कहानियों को सोद्देश्य कहना ग़लत होगा, या कि सही। निरुद्देश्य यहाँ कुछ है यह कहना भी कम जोखिम भरा नहीं है।

कुछ कहानियाँ हैं जो मानो कि न प्रमेय पर और न प्राप्त पर ही लिखी गई हैं। एक बार का स्मरण है कि सध्यानन्तर अकेले एक मशान म से जाते हुए मुझे अपनी चेतना पर एक अजब तरह का दबाव अनुभव हुआ। था कहीं कुछ नहीं तो भी एक डर लगा। बाहर का न-कुछ ही जसे जाने क्या कुछ मेरे लिए हो गया था और उसकी सीधी प्रतिक्रिया मेरे अतश्चेतन पर होती थी। मैं तेज चलने लगा था और साँस फूल आई थी। छाती धक धक कर रही थी। वह कुछ एक ऐसा अनुभव था कि कुछ देर टिकता और अधिक तीव्र होता तो उसके नीचे जान ही सुन पड जा सकती थी। कोरे डर से जाने कितने मर गये हैं। यह डर, जिसे कोरा कहते हैं क्या है ? वह कुछ है अवश्य। और मानो उसी का सचेतन भाव से पुन स्पर्श पाने के लिए मैंने एक कहानी लिख दी। उसमें तो पात्र भी नहीं है घटना भी नहीं है, केवल मात्र वातावरण है। उसमे प्राणी तो प्रेत के मानिद, जिनम देह ही नही और वे निरे सभ्रम से बने हैं। ऐसी कहानियों मे सोते पेड झिल्ली घास, बहता पानी सूना विस्तार, रुकी वायु, टिका आसमान, मटमैला अँधियारा ये ही जसे व्यक्तिगत सत्ता धारण कर लेते हैं। ऐसे म धरती आसमान से बातें करने लगती है और जो अचर है वह भी मनुष्य की वाणी बोलने लगता है।

क्या मुझे मानना होगा कि जहाँ पेड, पौधे और चिडियाँ आदमी की बोली म बोलते हैं वह कहानी अयथार्थ है ? क्या वह एकदम अवास्तव है इस लिए निरी व्यर्थ वस्तु है ? सभव है वह हो अवास्तव और अयथार्थ और किसी के लिए एकदम व्यर्थ भी हो सकती है। पर डर भी तो अयथार्थ ही है ! पर जो

डर के मारे मर तक गया है, उसकी मृत्यु ही क्या उसके निकट उस डर के अत्यन्त यथार्थ होने का प्रमाण नहीं है ?

इसलिए मैं मानता हूँ कि वातावरण प्रधान कहानियाँ अनिष्ट और अनुपयोगी नहीं हैं। बल्कि चूंकि उनमें अस्थि मांस की देह नहीं है, इसलिए हो सकता है कि उनमें स्थायित्व कदाचित अधिक ही हो। देह मत्य है, अमर आत्मा है। इससे जिसमें दैहिकता स्वल्प और भावात्मकता ही उत्कट है, उन कहानियों में चिरजीविता भी अधिक है ऐसा मानने को मेरा जी करता है।

तभी तो जो असम्भव की रेखा को छूती है और जो स्थूल भौतिक जगत् की सम्भावना की सीमाओं में पराजित नहीं है, वह क्या जाने काल के कितने स्थूल घटनों को भेदती हुई शताब्दियों से अबतक जीवित बनी हुई है। पुराणों की देवता और राक्षसवाली कहानियाँ, जातक की कथाएँ और ईसप की पशु पक्षियों की वार्ताएँ छन कर हमारे नित्य प्रति के जीवन में घुल मिल गयी हैं। अत यथार्थता का आवरण और अवलेप जिस पर जितना कम है वह कहानी समय की छलनी में छनती हुई उतनी ही श्रेष्ठ भी ठहरे, तो मुझे अचरज न होगा।

● ● ●

अपनी कैफ़ियत

काफी अरसे पहले यह अपनी कैफ़ियत दी गई थी। आज दस बरस से ऊपर हो गया। उसमें कुछ अधिक जोड़ने की इस समय रुचि नहीं है। अपना ही विश्लेषण आप मुझमें न चाहें। बाहर की घटनाओं या व्यक्तियों का प्रभाव मुझ पर क्या पड़ा यह मैं छाँट बीनकर बता नहीं सकता हूँ। जो हूँ, उन सब प्रभावों के परिणाम में ही हूँ। अलग अलग करके उन्हें दे सकूँ, तो शायद मैं स्वयं कुछ भी न रह जाऊँ।

नीलमदेश की राजकन्या कहानी को मैं अपनी सर्वप्रिय सर्वश्रेष्ठ कृति समझता हूँ, ऐसा न मान लीजिये। न प्रियता जड़ चीज है न श्रेष्ठता। दोनों गुण सापेक्ष भाव से जहाँ तहाँ न्यूनाधिक परिमाण में बटे रहते हैं। इस दृष्टि से अपनी रचनाओं में चुनाव करना मेरे लिए कभी सम्भव नहीं हुआ। चुनौती के

जवाब मे भी वह मै कर नही पाया। इस नीलम देश की कहानी की चर्चा शायद कम ही हुई है। वह किसी बाहरी स्थिति या बोध या मत के लिए नही बनी है। वास्तव उसम कुछ है ही नही। देश है तो नीलम का, कथा है तो उसके माता पिता का आभास नहीं है सहस्रा वष स ऊपर उसे आयु मिली है। इस तरह कुछ भी वास्तविकता यहाँ नहा है। उस कथा का सारा कलेवर मेरे अपने अतरग के भाव सूत्रो स बुना और बना है। इसलिए किसी एक कहानी का नाम जब मुझे आपको बता देना ही पडा तो मैंने सहज भाव से वह नाम ले दिया। मैं श्रद्धा का कायल हू। बुद्धि व्यापार सत्य की उपलब्धि म अत मे लगडा ही ठहरता है। बुद्धि की इस सीमित साथकता और उसके आगे उसकी व्यथता का जतलाने के लिए कहानी लिखी गई व्यय प्रयत्न। उसी की जोड म लग भग साथ ही यह कहानी बनी, नीलमदेश। जसे वह उत्तरपक्ष है पहली म नकार है तो इसमे स्वीकार। मैं इस रचना को अपनी मूलभूत वृत्ति की परि चायिका कह सकता हूँ।

●●●

निवेदन और जिज्ञासा

मई महीने के याद 'याद' के एक लेख म मेरी कहानी 'ग्रामाफोन के रिकार्ड' को याद किया गया है। लख पर लेखक का असली नाम नही है। मैं हठात मान लेता हूँ कि लेखक स्त्री नहीं है यद्यपि उपयुक्त (और सम्भव) है कि वह स्त्री हो। उनका पता मुझे हो तो सीधे उन्हें लिखकर मैं उनसे माग दमान चाह लू। जहाँ वह लेखक निश्चित और निश्चयक है वहाँ मैं स्वीकार कर लू कि मैं नहीं हू। मैं अभी राह बूझ ही रहा हूँ। प्रार्थी हूँ कि राह पा जाऊँ। इसमे यहाँ मैं अपनी स्थिति लेखक और पाठक के सामने रखने की इजाजत चाहता हूँ।

कहानी तो कहानी है। इसके बारे म कुछ कहना क्या है। उसकी सफाई मुझसे न चाही जाय। सफाई देने लगने से या भी गलतफहमी दूर होते कम देखी जाती है। मैं मानता हू कि उन पाठक लेखक को गलतफहमी हुई है। 'याद' उन्होंने मेरी और कम चीजें पढी हैं। तो भी वह इसी कहानी को दुबारा पढ सकते हैं तिबारा पढ सकते है। मैंने उसे फिर फिर पढा है। मैंने यह नहीं पाया उसके भीतर कि बुराई को पोषण मिला है। वहा भी मुझे मानव हृदय के वैज्ञानिक अनुसधान की अपनी लगन मिली है। उससे पहले भी मुझेबताया गया था कि मेरी उपयुक्त कहानी मे से किन्ही को बुराई फूटती दीख पड़ती है। पढकर मैंने अपनेसे पूछा था कि क्या उस कहानी की 'विजया' को मैं अपनी सगी बहिन मानने के लिए तैयार हू ? उस प्रश्न क जवाब म मेरा मन औंधा नहीं था। मैंने उत्तर पाया था कि हाँ क्या नही, तैयार हूँ। उस लख के बाद भी मैंने वह कहानी फिर पढ़ी और फिर अपने से वही पूछा। मन ने कहा

कि बेशक विजया तेरी बहिन ही तो है। इस सवाल पर मेरा मन काँप जाता तो मैं प्रार्थना करता कि परमात्मा शक्ति दे कि मैं हिन्दी संसार से अपनी उस काली कहानी को वापस खींच लूँ। पर अब जब बात वैसी नहीं है मैं लेखक और पाठक से पूछता हूँ कि कृपया बतावें मैं क्या करूँ? क्या पाठक के समक्ष कहानी के प्रति अपनी स्वीकृति और अपना पूरा दायित्व ही नहा स्वीकार कर लूँ?

समस्याएँ इसी स्थल पर खड़ी होती हैं। क्या सभी कुछ लिखा जा सकता है? क्या निषिद्ध कुछ है ही नहीं? जो भरमाये कुम्हलाय जो बहकाये और हमारी पशुता को जगाये क्या वह भी लिखा ही जाय?

एक ही वस्तु में से किसी को विराग प्राप्त होता है। दूसरे में उसी के सहारे उत्कट वासना फनफना उठती है। तो उस वस्तु के बारे में क्या निर्णय किया जाय?

निषेध की रेखा यदि है और आवश्यक है तो उसे कहाँ खोजा और कहाँ खींचा जाय? अनिष्ट और इष्ट साहित्य में क्या अन्तर है? क्या कुछ अन्तर है ही नहीं?

ये और ऐसे और सवाल खड़े होते हैं। वे अपना हल माँगते हैं। मैं चाहता कि सभी एक लोग इन बातों का समाधान करके दें। मुझे लेख पढ़कर ऐसा नहीं मालूम हुआ कि उसके लेखक ने इन प्रश्नों की गुरुता पर पूरा ध्यान दिया है। या फिर यह हो सकता है कि उनकी बात पूरी तरह मैं ही नहीं समझ पाया हूँ।

लेखक का काम जोखिम से भरा है। जो उसके अपने विश्वास हैं, मानो उनके बारे में भी उसे निर्मम होना पड़ता है। उसमें सतत जिज्ञासा है, निरन्तर प्रश्न । अपनी मान्यता, अपना अभिमत, अपनी धारणा, अपना अहंकार, इन सबसे उसे किनारा करना होता है। उनके प्रति भी वह निरन्तर सप्रश्न है। प्रश्न बिना जिज्ञासु कैसा? तटस्थ हुए बिना द्रष्टा कैसा? लेखक के लिए ममता का कहीं अवकाश नहीं रहता। सब उसके हैं फिर भी कौन उसका है?

वह श्रद्धावान है फिर भी (अथवा तभी) शकातीत है। स्नेही है इसी से निस्म्व है। इस भांति परमात्मा भी उसके निकट आलोच्य बनता है। वह जितना ही निस्सम हो निमम हो उतना ही कम है। यह निममता असलग्नता, उसी अनुपात म व्यक्ति को प्राप्त होना है कि जितना गम्भीर और कठिन उसका अ त स्थ प्रेम होता है। लेखक द्वेष इसीलिए किसी से नही कर सकता, क्योंकि राग नही कर सकता। द्वेष भी राग है। दोनो मोह ज य ह। इसी से लेखक के निकट जब देवता भी अलोचनीय होता है तब वस्या भी विवचनीय बनती है।

क्या यह ठीक नही है कि लेखक जज नही है ? हमारे सब विशेषण जो अनवय की स्पर्द्धा म से बने हैं, जो पिनल कोड म जसे मालूम होते हैं वे लखक के लिए नही ह। समभो कि वे उसकी पहुँच स बाहर है। पापी, नारकीय घृण्य अस्पृश्य नीच शत्रु, पामर—ये शब्द लखक के काम के लिहाज से भोथर, ओछे निरे स्थूल पडते हैं। इनम स किसी दुर्विशेषण से पुकारा जाने वाला व्यक्ति लेखक के लिए वजनीय कैसे हो सकता है ? इस दुनिया स बाहर का सत्य उसके लिए अप्रतिष्ठित है। उसे दुनिया क दीना मे पतितो दलितो और पीडितो म पापिष्ठ और पापिष्ठाओ म भी उसी आत्मा को देखना है जो सत्य है जो कि एकमात्र सत्य है। जिसको समाज का न्यायाधीश जेल और फांसी की सजा दगा, लखक को उसे भी छाती स लगाने को तयार रहना होगा। लेखक जज नही हो सकता। जज बडा आदमी हो लेखक को अपने से क्षुद्रातिक्षुद्र से भी बडा नही गिनना होगा। लेखक नू य है इसी सबके प्रति वह सम्मानशील होगा। 'विजया यदि पतिता है तो हो, लेखक उसे अपनी बहिन क्या न मान सके ? लेखक को उसके पतन मे सुख नहीं है। वह उसके दु ख म दु खी है। उस पतिता को लाछना देकर, उपहास देकर लेखक का चन नही है। उसकी दयनीयता मे स लखक को रस नही लेना है। क्यो वह उसे उबारने के लिए अपने को विसजन करने की क्षमता भी नही चाहता ? चाहता है और ठीक इसीलिए वह उस 'पतन' की ओर आँख नही मीच सकता। क्योंकि क्या असम्भव है कि उसके निमित्त उसे खपना भी पडे ?

जब मैं ऊपर की बात कहता हूँ तब मुझे लगता है कि जगत् के कर्म कलाप के बीच कहीं गहरी कोई ऐसी रेखा खींची हुई नहीं है जिसके उस पार पुण्य हो और इस पार पाप हो। पुण्य प्रेम है और पाप अप्रेम के अतिरिक्त और क्या है? अपने जी से बाहर पुण्य और पाप का अस्तित्व मुझे नहीं दीख पाया। इसलिए मैं जानता हूँ कि आलेख्य और विवेच्य वस्तु के संबंध में विधेयता और निषिद्धता को समझना होगा तो अधिकार भेद और अधिकारी भेद की अपेक्षा के बिना मात्र वस्तु लगाव में उसे नहीं समझा जा सकेगा।

क्या बल ये पाप नहीं है? क्या निर्वीयता निश्चेतनता और जड़ता पाप नहीं है? हम निर्वीयता को पवित्रता की परिभाषा ओढ़ा दें तो इससे क्या वह कम पाप हो जाती है? जिस तरह कायर और भीरु की अहिंसा अधम है, वैसे ही निस्तेज रोगी का सदाचार स्पृहणीय नहीं है। रोगी का रोग समझना होगा और उसके सदाचार के गर्व को खंडित हो जाने देना होगा।

लेख में भारतीय नारी की बात कही गई है। वह ठीक है। लेकिन नारीत्व भारत में समाप्त नहीं है। नारी यदि आदरणीय है तो इस नाते के ही साथ नहीं कि वह भारतीय हो। यदि नारी भारतीय से इतर है तो इस कारण वह कम सम्माननीय और अधिक आलोच्य नहीं बन जाती। जान पड़ता है कि भारतीय न होकर नारी लेखक के निकट किंचित कम आदर की पात्र रह जाती है। मैं इस दम्भ के विरुद्ध हूँ भले वह राष्ट्रीय हो। भारतीय संस्कृति के समर्थक होने का यह अर्थ मैं अपने लिए नहीं लगाता कि इतर संस्कृति अथवा भिन्न जीवन के लिए मेरे मन में आदर भेद न रहे। भारतीय नारी यदि चिरंतन नारी की प्रतिनिधि है तो यूरोपीय रमणी भी क्या नहीं है? मैं नारी की भारतीयता को अपनी सहानुभूति और दृष्टि की परिधि नहीं बना लेना चाहता। मैं मानता हूँ कि सजीव भारतीय तस्वीरें भारतीय नहीं प्रतिक्षण विकासशील है। अपरिवर्तनीयता अचेतन पदार्थ का लक्षण है।

जिसकी जरूरत है वह है यहाँ प्राणता। साहित्य में उसकी जरूरत है और जीवन में उसकी जरूरत है। छोटी-छोटी ममताओं से ऊँचा उठना होगा।

तक दायरे नहीं काम देंगे। धर्म, सिद्धान्त, मत मान्यता, प्रकृति-संस्कृति, पंथ सम्प्रदाय ऐसे शब्दों की आड़ लेकर संकीर्ण ममताएँ और सीमित स्वार्थ आज पाले और पोसे जा रहे हैं। उनसे चिपटकर मानव और मानव समुदाय अपने को निर्बल रख रहे हैं। अपनी ही निर्बलता उन्हें प्यारी है व मोह में मुग्ध हैं। लेकिन नहीं, जग विकसित होगा और मानव देवता होगा। हम क्षुद्र कैसे रह सकेंगे? विराट का आह्वान क्या प्रतिक्षण हमको नहीं प्राप्त हो रहा है? तब क्षुद्र बने रहने का अवकाश हम क्षुद्रों को भी नहीं मिलेगा। हम चीखते रह सकते हैं कि हमारा धर्म गया, हमारी संस्कृति डूबी, हमारा आदर्श मिटा! लेकिन जो कल्याणकर है वह सम्पन्न ही होगा। हमारा रोना वह सुने तो हमारा ही मंगल साधन कैसे हो?

मैं मानता हूँ कि सत्य गहन है। मैं जानता हूँ कि सत्य जितना व्यापक है उसके नाम पर उतना ही पाखंड के फैलने की गुंजायश है। जो वर्षा हरियाली उपजाती है वह गंदगी भी बढ़ाती है, लेकिन इसके लिए वर्षा को रोकने का यत्न नहीं करना होगा। हमको अपने भीतर परख जगानी होगी। पीतल भी पीला होता है, इससे सशंक होकर स्वर्ण का बहिष्कार करना बुद्धिमत्ता नहीं है। समवर्ण और सस्ते होने की विशेषता से लाभ उठाकर पीतल बाजार को पाट दे सकता है, तो भी सोना इस पीतल के सौभाग्य की स्पर्द्धा नहीं कर सकता। वह अपने को दुर्भागी मानकर अपनी स्वर्णता तज देने का अहंकार किस भाँति ठाने? वह विनीत हो, पर अपनी स्वर्णता पर लज्जित उसे नहीं होना होगा। हाँ, उसे चाहो तो तिरस्कृत किया जा सकता है।

मुझे आशा है कि समालोचक लोग ऊपर उठाये गये प्रश्नों को हमारे निकट सुलझाने की कृपा करेंगे।

मेरी रचना-प्रक्रिया

■ कहानी या उपन्यास लिखने की प्रेरणा आपको अधिकांशत जीवन और जगत् से सीधे मिलती है या उनके प्रति बन चुके अपने किसी दृष्टिकोण से ?

—बन चुके दृष्टिकोण को फिर फिरकर सवारते रहना होता है। अर्थात दृष्टिकोण कितना भी स्थिर हो नये आते हुए अनुभवों से संस्कार प्राप्त करता ही है।

जीवन और जगत से आने वाला प्रभाव संवेदनों का मिलता है। वहाँ से स्वय जिस दृष्टिकोण कहो उसमें रच रम जाता है।

कहानी उपन्यास मेरे लिए केवल भावोद्गार नहीं है। उसमे दिशा होती है और वह विचार से आती है। विचार मनोदृष्टि या दृष्टिकोण से स्वतन्त्र नही हुआ करता। मैं जानता हू कि यदि उसके पीछे दृष्टि या विचार न हो तो रचना में बहुत कुछ भावात्मकता होकर भी अर्थ की उतनी गरिमा नही हो सकती। प्रभाव को इसे अन्विति कहते हैं या एकाग्रता और एकमता कह सकते हैं। यह उस विचार में से आती है जो पहले से ही उपस्थित रहता है और स्वय घटना और रचना में से अपना समर्थन-प्रकाशन चाहता है। घटना मैं जीवन और जगत् की ओर से आने वाले प्रभावोपलक्ष को कहता हू।

■ जिसे आपने मनोदृष्टि कहा है साहित्यिक कृति के माध्यम से आप प्राय उसकी पुष्टि करने की चेष्टा करते हैं या उसकी जाँच की ओर भी अग्रसर होते हैं ?

—प्राय पुष्टि करता हूँ। जाँच करने का साधन अधिकांश इंद्रियों से प्राप्त होने वाला सीधा जगत्-बोध होना ही नही है। जाँच का साधन यदि हो

तो स्वय अतरगता के पास है, बाह्य विवरण और विगत के पास नही है।

यह सच है कि मैं श्रद्धा से चलता हूँ। श्रद्धा के पास मानो कुछ ग्रहीत मान्यता रहती ही है। बाह्य सामग्री इद्रियो के द्वारा जितनी भी बुद्धि के पास पहुचती है उस सबम मानो बुद्धि चुनाव और उठाव करती है। यह सब बुद्धि का धधा श्रद्धा से स्वतन्त्र नही हुआ करता। बल्कि श्रद्धा के अनुसार ही होता है। लेकिन श्रद्धा मत कट्टरता से सवथा भिन्न वस्तु है। मत की जडता प्रश्न का स्वागत नही करती। श्रद्धा के लिए प्रश्न भोजन है। इस तरह बुद्धि श्रद्धा को काटती नही न उसे सस्कार परिष्कार देती हुई कही जा सकती है। वह तो श्रद्धानुसारिणी ही होती है। कि तु सजीव श्रद्धा मानो नित्यप्रति अपने को आत्म सस्कार दिया करती है। और इसम व्यक्तित्व का वह अश सहकारी होता है। जो तक बुद्धि स गहरे व्यथा के स्तर पर काम किया करता है। श्रद्धा आत्मव्यथा म से स्नान कर नित नूतनता प्राप्त करती है।

बाहरी घटनाएँ इस श्रद्धा वित व्यक्तित्व स्तर मे मे स्वय जज पाती और अपना रस देकर उस और पुष्ट कर जाती हैं। इससे अधिक शायद व नही कर सकती।

* जिस श्रद्धा को लेकर आप साहित्य सजन म प्रवृत्त होते हैं जब उसम मत की कटटरता या मताग्रह का लेन भी नही है तो आपके जाने या अजाने मनोदष्टि की जाच की गुजायश तो रह ही जाती है। अपनी किसी कृति को लिखते समय या पूरा करक क्या आपने कभी एसा भी महसूस किया कि जिस मनोदष्टि को लेकर वह चली थी उसम हेर फेर की अपेक्षा है ?

—हाँ कोई रचना ऐसी नही है कि जो मेरे हाथ आकर बदली न जाय। बार बार आये तो बार बार बदलने की इच्छा होती है। इसीलिए मैं कोशिश करता हू कि होने पर रचना फिर मरे सामने आयेगी ही नही।

यह फेर फार करने की इच्छा क्या होती है ? आखिर इसीलिए हो सकती है कि व्यक्तित्व और जीवन एक क्षण के लिए भी गतिहीन नही होता है।

हाँ सजन म आलोचन गर्भित हुआ चलता है। इसलिए सृजन कोई सहज प्रक्रिया रहा है। बड़ा कष्टायक अनुष्ठान है। कष्ट मुख्यता से इसी दाँतेदार आलोचना स होता है जो आर की तरह से तुमको बराबर काटती रहती है। जो बात ध्यान देने की है और जिसे मैं बड़े महत्व की मानता हू वह यह कि आलोचना वह अतमन और अत विवेक से आती है। बाहर से आई हुई कुछ भी प्रतीति उसके लिए सहायक नही हो पाती। उपदेश आदेश अथवा ज्ञान विज्ञान की आना अनुशा सहायक नही होती बल्कि ऊपर स आई सीख एकदम असगत आ पड़ती है। और उपदेश की अधिकाश अवमा होती है। यह इसी कारण कि चैतन्य का परिष्कार वस्तु की ओर से नही आ सकता उसे आत्म की ओर से ही आना होता है।

आत्माभिव्यक्ति म आत्मालोचन गर्भित रूप स और अनिवार्य, होता ही है। इसलिए यह श्रद्धा जिसम मत की कट्टरता का विशिष्ट रह गया है, साहित्यिक सृजन म स मानो स्वय अपनी जडता का परिहार प्राप्त करती है। साहित्यिक कृति का प्रभाव और उतना ही होगा जितना सहानुभूति का प्रवाह खुला रह सका है और कट्टरता अवरोध नही बन सकती है। अवरोध यदि वही बनी हो तो साहित्यकार और साहित्य रसिक तत्काल अनुभव करेगा और इस प्रकार स्वय उस साहित्य की कृति स कट्टरता स मुक्ति का उपाय हो चलेगा।

■ अभी-अभी आपने बडे मार्के की बात कही है— श्रद्धा आत्म-व्यथा म स स्नान कर नित नूतनता प्राप्त करती है। परतु सुनीता सुखदा विवर्त और व्यतीत की नायिकाओ का समान्तर विकास और उपन्यास समाप्त होते होते उनका एक ही रूप का उभरकर सामने आना क्या इस बात का द्योतक नहा है कि इन उपन्यासो का अत एक ही निष्कर्ष म हुआ है?

■ दो व्यक्ति सृष्टि म कभी पूरे एक समान नही होते। न रचना मे दो पात्र बिलकुल एक हो सकते हैं। समान-जसे दीखते हो पर होते नही हैं। जिन उपन्यासो का आपने नाम लिया, उनकी नायिकाओ म आप चाहे तो अन्तर

देख सकेंगे। मेरे उपन्यासों में अंतिम परिणति यदि कुछ एकोन्मुखी दीखती हो तो हो, वह हो सकती है। मेरे लिए अंत में सब बातें एक बड़े प्रश्न और बड़े धर्म में समाई हैं। वह यह है कि अंत में अहं को अखिल में अर्पित और लीन हो रहना है। समस्या मूल में यही है कि व्यक्ति है। व्यक्ति की समस्या जैसी मालूम होती है लेकिन वह सृष्टि की समस्या है इसलिए जो निदान समस्या को बाहर देखता है, देश और काल में रखता है वह रोग के लक्षणों को पकड़ता है, मूल तक नहीं जा पाता। राजनीति और दूसरी कार्मिक प्रवृत्ति उसी तरह चलती है। मुझे वहां समाधान नहीं जान पड़ता। इसलिए शायद मेरी सब कहानियाँ अंत में जैसे कुछ एक ही रहस्य में आकर समाप्त होती हैं। उसके अतिरिक्त शायद उन रचनाओं में समानता न भी देखी जा सके, पर वह विचारणीय नहीं है।

※ अब तक आप अपना अधिकांशतः जीवन दर्शन या आपके ही शब्दों में मनोदृष्टि साहित्य के माध्यम से अभिव्यक्त करते आए हैं। क्या कभी आपको ऐसा भी लगा कि यदि यह साहित्य की ओट छोड़ मैं अपने वास्तविक रूप में सीधा पाठकों के सामने आया होता तो बेहतर होता ?

—मुझे अपनी ओर से तो नहीं लगा। लेकिन कहानी उपन्यास पढ़े जाते और पढ़ाये भी जाते हैं, तब प्रश्न होता है और मुझसे किया जाता है कि वाक्य का अर्थ क्या है या उस प्रसंग का भाव क्या है ? तब मालूम होता है कि जीवन का प्रश्न जानकारी का बन गया है और जो करने और रहने के लिए था वह समझने समझाने का बना जा रहा है।

मैं मानता हूँ कि जीने के सवाल को जानने का बनाना जीने से बचना है। शायद जो कठिन है उसे हठात आसान मान लेना है। फिर भी यह करना पड़ता है। लेकिन इस काम का मूल्य दोयम है। प्रथम जीता जागता चरित्र-प्रतीका की सृष्टि है। तत्त्व सिद्धांत का उत्पादन उतना बड़ा काम नहीं है।

फिर भी मुझ कथा-लेखक को छोड़कर मुझ विचारक को अपनाने वाले लोग भी मिल जाते हैं। ऐसे लोग प्रतिष्ठा प्राप्त और गम्भीर होते हैं। अनेक

हैं जिन्होंने कहानी मेरी एक भी नहीं पढ़ी है न पढ़ेंगे। निबन्ध पढ़ते हैं और उसी को पढ़ने योग्य मानते हैं। बहुत हैं जो ताजा हालत में फल पसन्द नहीं करते सूखी हालत में सिर्फ मेवा के कायल होते हैं। मानना होगा कि फल जल्दी रस छोड़ रहता है। सूखी मेवा को बनाये रखा जा सकता है। जिसमें से जान चली गयी है उसे आगे फिर मरना शेष कहाँ रह जाता है ? एसे मान अधिक जी जाना है। क्योंकि बेजान होने से उसके जीवन का आरम्भ होता है।

मैं उस काम में पड़ा हूँ क्योंकि युग बुद्धिवादी है और मैं उस युग रोग से बचा हुआ नहीं हूँ। *अपेक्षाकृत यह काम आसान भी होता है।* कहानी में अपने से ज्यादा लड़ना झगड़ना पड़ता है और वह चीज हल्की दीखने पर भी मुश्किल होती है। मम का रस मुझे उसी में मिलता है। और सबसे बड़ी सुविधा यह है कि कहानी की व्याख्या आवश्यक नहीं हुआ करती है। फिर भी पढ़ने लिखने वाले लोग व्याख्याओं पर चलते और चलाते हैं। इसमें उसकी भी कुछ उपयोगिता है।

※ इस बीच आपके विभिन्न समस्याओं पर बहुत सारे चिन्तनात्मक लेख पढ़ने को मिले हैं। तो आप जब विचार करते हैं तो किसी न किसी एक निश्चय बिन्दु पर तो साधारणतः पहुँचा ही करते होंगे। तो सूत्ररूप में आप प्रमुखता से क्या कहना चाहते हैं ?

—एक मुश्किल मेरी शुरू से रही है और अभी तक भी कमी नहीं है। यह कि मुझे अपने को मानना पड़ता है। इसके बिना काम ही नहीं चलता है यानी पहले से मान लूँ कि मैं हूँ। लेकिन मैं अपने को पूरी तौर पर मान भी नहीं सकता हूँ। क्योंकि इतना अनन्त यह जो कुछ बाहर है वह भी है। तो मेरा बाकी इस सारे ब्रह्माण्ड से समाज से जगत् से देश से, दुनिया से, सूरज से चाँद से आप से क्या संबंध है यह बड़ा प्रश्न बन जाता है। सबसे न रह जाए मैं अपने में ही मुँह गाड़ लूँ तो उसमें समाधान मुझे दीखता नहीं है। और सारे पद्धति या अध्यात्म यही बताता जान पड़ता है। अपने को इन्कार कर दूँ,

और शेष काल इतिहास मे नश्वार वत ठहरा दू तो भी ऐसा मालूम होता है कि 'मैं' नाम की चीज समाप्त नहीं होती है। यह जो यमवाद है भौतिकवाद जिसको शब्द दिया जाता है उसके ओर से भी मैं' खत्म नहीं हो पाता है। बल्कि बढ़ जाता, फूट आता देखा गया है। तो आखिर म मुझे लगता है कि मै और बाकी जो कुछ है उसके बीच म सतत आदान प्रदान का सबध हो सच है। मै बाहर से जो कुछ मेरी इंद्रिया लाकर मुझे देती हैं उसका स्वीकार करूँ, यह कह कर तिरस्कार न करू कि यह मिथ्या माया है। फिर इस ओर से भी अपनी चेतना-भावना अपने म न रखू दूसरे को दू। इस प्रकार अगर पूरा वृत्त हो जाय वही से लू और अपने को दू तो मैं समझता हूँ कि जीवन म चित विद्युत् रेखा प्रवाहित हो जाती है। नही तो विद्युत प्रवाह चलता नही है। तो अब इस सबध को मैं प्रेम का सबध कहता हूँ जहा अभिन्नता पाने की कोशिश है और भिन्नता की अनुभूति है। तथ्यानुभूति भिन्नता की है, श्रद्धा धारणा अभिन्नता की है। देह म विछोह, आत्मा मे सयोग। विरह वेदना और सयोगानद। तो यही एक मेरी मुख्य चीज है कि य दो जो हैं, धम और कम, अध्यात्म और वस्तु मैं और समष्टि व्यक्ति और समाज, इत्यादि इत्यादि दो किनारे बना रहते हैं, इन दो म एकता हो। दो मे नाश किसी एक का भी न हो, पर दोनो के बीच मे प्रीति हो। इसको मैं आदर्श मानता हूँ, इसको साध्य मानता हूँ। इसी की उलझन म मेरा जो कुछ लिखना होता है होता रहा है।

* प्रेम क सामाजिक स्वरूप पर आप विशेष जोर देते हैं ?

—मैं समझता हूँ कि अप्रेम असामाजिक है प्रेम सदा ही सामाजिक है।

* कही व्यक्ति प्रधान हो जाय और कही उसम उसका जो दूसरा सामाजिक स्वरूप।

—जी मैं समझता हूँ कि व्यक्ति प्रधान होता है। प्रेम तव अप्रेम के मिश्रण म कारण होता है। प्रेम अपने आप म अभय प्रधान है। उसम 'स्व' और पर दोनो को समान रखा है और मैं समझता हूँ कि क्योकि वह अभिन्नता का प्रयास है इसीलिए प्रेम कभी भी असामाजिक हो सकता नही है। और जो असामाजिक होता है वह अप्रेम के मेल के कारण होता है। इसलिए प्रेम मेरे

लिए, मेरी कहानियों में और तरह से भी, अंतिम मूल्य है। उस मूल्य की परख के लिए कोई दूसरा मूल्य नहीं रहता। वही है जो कि स्वप्रतिष्ठ और प्राथमिक है और इस मूल्य की कसौटी पर दूसरी चीजें कसी जा सकती हैं। प्रेम का कसने के लिए उपयोगिता कसौटी नहीं है। प्रेम तो सर्वथा शुद्ध है पवित्र है। यह मेरा मत है।

■ आपके इस विचार के साथ ही एक और दूसरा प्रश्न मेरे मन में उठ आया है कि क्या साहित्य के सृजन के समय आपके विचार कथा से आगे आगे चलते हैं या कथा विचारों से आगे रहती है?

—इस प्रश्न को मैं कुछ अपनी भाषा में कहूँ तो मुझे लगता है कि मेरा दिमाग कागज पर जो शब्द लिखे जाते हैं—उससे आगे नहीं चलता। दोनों साथ साथ चलते हैं। यानी दिमाग में लिखे जाने के साथ साथ ही कागज वाला लेख भी लिखा जाता है। अगर दिमाग में कहानी कागज से स्वतंत्र होकर बन जाती है तो लिखने में कभी नहीं आती। आप इसमें से क्या निकालियेगा? मैं समझता हूँ शायद सार यह निकले कि दोनों प्रक्रिया साथ साथ चलती हैं। ऐसा मेरे साथ हुआ है। यानी कि कथा का आत्म निर्माण अर्थात आंतरिक भावबोध और कथा का कलेवर बाह्य ये दोनों युगपत् साथ चलते हैं। इसमें आगे पीछे होने में उलझन हो जाती है।

■ ये बात तो मैं स्वीकार करता हूँ। लेकिन इस बात, इस प्रश्न की प्रेरणा इसलिए भी मिली थी कि आपका व्यक्तित्व जब भी सामने आता है एक चिंतन या विचारक व्यक्ति जैसा सामने आता है। आप विचारक कथाकार हैं। इस लिए आपका विचारक प्रमुख हो जाता है या कथाकार प्रमुख हो जाता है? प्रश्न के मूल में मैं यह जिज्ञासा आपके समक्ष रखना चाहता था।

—आप सच मानिये कि एक चीज जिससे मैं बेहद ज्यादा घबराता हूँ डरता हूँ वह विचारकता है। मैं किसी विचार को कभी भी अपने पास फटकने नहीं देना चाहता। कोशिश रहती है कि मैं सारे विचार के प्रति अपने दिमाग को बन्द रखूँ। क्योंकि मुझको यह लगता है कि जब तक दु:ख भीतर नहीं है, उलझन

सामने नहीं है तब तक जो भी विचार है सो खामख्याली है, बुखार है, वह विचार नहीं है। इसलिए मैं विचारक कुछ भी नहीं हूँ, भाई! और मैं समझता हूँ कि विचारक और कथाकार इन दोनों के बीच झगड़ा अनिवार्य हो तो वैसा झगड़ा होता हुआ मैंने तो अपने अन्दर अनुभव किया नहीं है। बाहर सुनता हूँ कि कोई दार्शनिक हुआ करता है जो कलाकार नहीं होता है इत्यादि इत्यादि। वह सब तो व लोग जानें, जो कहते ह। इस तरह का झगड़ा मैंने अनुभव नहीं किया है। कब कथाकार ऊपर आ जाता है, या कि दार्शनिक ऊपर आ जाता है! मैं समझता हूँ पडितो के बीच म बात करनी होगी तो कलाकार को मौका ही नही है तब ऊपर नीचे क्या, दार्शनिक ही दार्शनिक सामने आयगा। और जन मामा य के बीच मे बात करनी होगी, जहाँ पर कि दार्शनिक गुत्थी नही है वचारिक गुत्थी नही है तो वहा कथा का रूप आ जायगा उदाहरण का रूप।

※ और एक विनम्र पाठक के रूप म आपके उपन्यास पढते हुए कई बार मुझे कुछ पात्रो के प्रति क्रोध हो आता रहा है खासकर इसलिए कि वे झटके के साथ सब कुछ को तोडकर अपना मनचाहा क्या नही कर लेते है। मैं आपसे बडी विनम्रता के साथ यही पूछना चाहता था कि ऐसा ही कुछ कभी कभी आपने स्वय भी अनुभव नही किया है?

—मुझे इससे बहुत खुशी है कि मेरे पात्रो के प्रति किसी म क्रोध पैदा होता है। खुशी इसलिए है कि उसम प्रगट हो जाता है कि वह पात्र जीता जागता है। उसके सामने प्रसन्न हो जाता हो तभी तो क्रोध हो सकता है। तो ये भावनात्मक सबध रागात्मक सबध यदि पात्रों के प्रति पैदा हो जायें तो तो मैं समझता हूँ कि कहानी की सार्थकता इसी मे है। अब वह गलत पात्र है या सही पात्र है यह प्रश्न शेष नही रहता। विधाता की तोड फोड क्या नही डालता है पात्र, मिसमिसाकर क्या रह जाता है? यह परिस्थितिया का जो एक उसके ऊपर आवेष्टन है उसको तोडकर क्या नहीं तीर की तरह से निकल जाता है उनका हुआ क्यों रह जाता है? यह प्रश्न है और सगत है।

तो मैं यह मानता हूँ कि परिस्थितियों को तोड़ने में जो एक मुक्ति समझी जाती है, कि जिसको विद्रोह विप्लव कहते हैं क्रांति इत्यादि कहते हैं वह मुक्ति है ही नहीं। उसको मैं मुक्ति नहीं मानता हूँ। जहाँ वह विद्रोह अधिक है मैं समझता हूँ वहाँ फ्रस्ट्रेशन ता है लेकिन उसका फल मुक्ति नहीं है। इसलिए परिस्थिति और व्यक्ति इन दोनों में संबंध वह बना डालना जहाँ पर कि हम समझें कि तोड़ना ही एक सिद्धि है वहाँ भ्रम है। तो अन्त में यह प्रश्न होगा कि परिस्थिति वह चीज़ है जिसके साथ संधि की जा सके तो—आदमी का विकास आरम्भ होता है। इसलिए मेरा पात्र परिस्थिति को धक्का देकर तोड़ता से उतना उद्यत नहीं मालूम होता। परिस्थिति में मिस मिलाता दीखता है लड़ता झगड़ता है तो ऐसा मालूम होता है कि अपने साथ ज्यादा लड़ता-झगड़ता है और अपनी रुचि अरुचि अपनी अंतर्वृत्तियों के साथ बाहर के साथ कम लड़ता है। यह मेरे पात्र में इसलिए दिखाई देता है कि मैं यह मानता हूँ कि चेतना परिस्थितियों का उपयोग करके अपने को विकसित कर सकती है। परिस्थिति को टक्कर देकर उसमें कोई छेद या दरार पैदा करके चेतना विकास पाती है, ऐसा मैं नहीं मानता।

■ लेकिन वह परिवर्तन तो कर सकता है उस परिस्थिति का ?

—होता ही है। प्रत्येक ऊर्ध्वगामी चेतना परिस्थिति का परिवर्तन किए बिना रह नहीं सकती बशर्ते कि परिस्थिति के प्रति झुंझलाहट नहीं हो उस चेतना में। स्वीकारता चाहिए परिस्थिति के प्रति। मेरे ख्याल में यह जो मेरे पात्रों की सामर्थ्य है, और चिंतनशीलता है उलझन में रह जाना है, और वीर पराक्रमी पुरुष की भाँति तोड़ते हुए आगे निकल जाना अगर नहीं है तो वह इसी मेरी मान्यता के कारण ही है कि पराक्रम के नाम पर जो मोह हम आचरते हैं वह सचमुच पराक्रम नहीं है वह प्रतिक्रिया है।

■ एक अगला प्रश्न आपसे पूछूँ कि आपकी अधिकांश पात्राएँ पत्नी के साथ ही अभिसारिका भी हैं या उनका प्रेमिका रूप का एक व्यतीत उनके साथ जुड़ा हुआ है। कृपया बतलाइये कि आपके लेखक की सहानुभूति नारी के किस रूप के साथ है ?

* अब यह जो आपका शब्द है व्यतीत इससे दुविधा झलकती है। आप निस्संकोच रहें। क्योंकि सत्य का हम सामना करना है। अतीत का ही प्रश्न नहीं है वर्तमान और भविष्य में भी प्रेम को रहना ही है। विवाह जितनी ही आयु उसकी नहीं होती। मुझे लगता है आप माफ करें कि विवाह हो जाने के कारण और स्त्रियों में मैं सौन्दर्य न देख सकूं तो मैं समझता हूँ यह अर्थ करना विवाह का अपमान है।

* सौन्दर्य दर्शन का मतलब लेकिन हम प्रेम से कैसे ले लेंगे ?

—सौन्दर्य की अनुभूति जहां है वहां प्रेम नहीं है यह सिद्ध किया जा सकता है। रूपज है प्रेम।

* लेकिन वह प्रेम जो हर सामनेवाली आनेवाली नारी—

—हां सब नारियों के प्रति समक्षता चाहिए। पीठ की तरह कोई होनी ही नहीं चाहिए। सबके प्रति सम्मुखता ही धर्म है। पीठ देना कायरता है, पलायन है। प्रेम जो निखिल के प्रति है वह विवाह से टकरायेगा नहीं। पत्नी एक व्यक्ति है—इसी तरह से प्रेम इस केन्द्र के बजाय पत्नी के केन्द्र के बजाय किसी अमुक व्यक्तिगत केन्द्र में जायगा, तो शायद उनमें टकराहट हो सकती है तभी प्रश्न भी पैदा हो सकता है।

—पर पत्नी स्वयं ऐसा करती है तो क्या वह अपने समाज के प्रति या अपने पत्नी रूप के प्रति भी न्याय करती है ?

* मैं समझता हूँ कि अपनी आत्मा के प्रति और इस तरह से गृहस्थ के प्रति और इसके आगे जाकर समाज और समष्टि के प्रति भी न्याय तभी हो सकता है जबकि आदमी, स्त्री हो या पुरुष हो अपने प्रेम को घेरा बन्द करके गृहस्थी में नहीं घेर लेता है। तभी न्याय कर सकता है अपने प्रति और गृहस्थ के प्रति। इसलिए प्रेम विवाह का पूरक ही है पत्नी के लिए भी और पति के लिए भी। पत्नीव्रत अथवा कि पतिव्रत शब्द को प्रेम के निषेध के रूप में लेने से मैं समझता हूँ विवाह-संस्था ही गिर जायगी।

* एक बात और मैं आपसे पूछना चाहता था कि आज की हिन्दी में जो कि यह शास्त्रीय तत्त्वों से मुक्त होकर, जो ये प्रभाववादी कहानियां लिखी जा

रही है उनमें आपको हिन्दी साहित्य की कौन-सी संभावनाएँ दृष्टिगत होती हैं ?

—मैं समझता हूँ कि शास्त्रीय तत्त्व के प्रति कुछ बहुत आग्रह नहीं है। तो यह क्या सृष्टि के लिए इष्ट ही है। सृजन कर्म के लिए शास्त्रीय बोध की जो निर्भरता है, अच्छी नहीं है सहायक नहीं है। आज की कहानी में उक्त निर्भरता उत्तरोत्तर कम होती जा रही है यह मुझे अच्छा ही मालूम होता है। संभावनाओं के चिह्न हैं, यह मेरे लिए तनिक भी चिंता का विषय नहीं है।

■ लेकिन इसमें शिल्प के प्रति एक विशेष सजगता जो आ गई है उसके प्रति आपके क्या विचार हैं ?

—मैं समझता हूँ शिल्प के प्रति सचेत सजगता भी एक प्रकार की शास्त्रीयता ही है यह भी इष्ट नहीं है।

● ●

कहानी मे अपेक्षणीय और उपेक्षणीय

** नई कहानी की इन दिनों बड़ी चर्चा है लेकिन जैनेन्द्र जी, कहानी में नया क्या और पुराना क्या ?

—मुझे चर्चा का पूरा पता नहीं है। कहानी मेरे विचार में नई ही हो सकती है। कारण घटना जो जगत में घटती है वही समय से बँधी होती और पुरानी पड़ा करती है। कहानी की घटना जागतिक और सामयिक न होकर मानसिक होती है इसलिए वह सनातन बन जाती है। पाठक के मानस पर पढ़ने के साथ साथ घटित होते जाने के कारण वह नित-नूतन प्रतीत हो सकती है।

मैं अपने को कहानी-लेखक नहीं मानता हूँ यानी वह लेखक, जिसे साथ ही कहानी के विधि विधान का जानना भी आवश्यक होता है। मैं कहानी के शिल्प अथवा कि नये पुराने शिल्प के बारे में बेखबर हूँ और रहना चाहता हूँ। ज्ञाता होने से मुझे लेखक होने में बाधा पड़ने का भी डर है। ज्ञान सृजन के काम में अक्सर बाधक हुआ करता है। अज्ञता यह है इसलिए कहानी के मामले में अज्ञता का मैं अधिक कायल हूँ और विज्ञता से सदा भयभीत रहता हूँ।

यह मेरी अपनी बात है। उससे आप देखेंगे कि नई पुरानी की चर्चा या कहानी-सम्बन्धी कोई भी चर्चा मुझ से अलग किनारे ही छूट जाती है, मेरे काम से बहुत संगत नहीं हो पाती।

जो नई के पीछे रहते हैं या पुरानी के आगे रहना चाहते हैं ऐसे सब लोग कहानी के बाजार में और उसके मोल तोल में भटक जा सकते हैं।

कहानी की सृष्टि बाजार में नहीं उस निभृत गुहा में है जहाँ पीड़ा अपने लिए स्थान पाकर दबी-दुबकी रहती है।

▪ जैनेन्द्र जी एक ओर आपने कहा कि कहानी नई ही हो सकती है दूसरी ओर यह भी कि वह सनातन है। इसमें क्या विरोधाभास नहीं है?

—विरोध का आभास ही है विरोध नहीं।

▪ सो कैसे? इससे मेरी जिज्ञासा शान्त नहीं हुई।

—क्षण सदा ताजा होता है। लेकिन उतर कर वह पीड़ा का बनता है—वह गहन पीड़ा जहाँ दुःख और सुख व्यथा और आनन्द एकमएक हो जाते हैं—तो वही क्षण सनातन हो जाता है। वह कभी नहीं बीतता और शाश्वत बना रहता है। इसी से कहता हूँ कि शाश्वत का अस्तित्व नहीं है। है तो क्षण ही शाश्वत है। यानी *एक साथ जो पुरातन और नितनूतन हो वही सनातन है।* कहानी में सनातनता का प्राण चाहिए। बाकी सब ऊपरी है बदल सकता है फैशन है, साज सज्जा है, पहरावा और प्रेजेण्टेशन है।

▪ इससे मेरी शंका दूर हुई। आपका आशय यही है न कि सनातन और शाश्वत ही कहानी का प्राण है। जिसे नया कहा जा सकता है और ऐसा नया पन आने वाले कल के सन्दर्भ में पुराना पड़ जाएगा। है न?

—यही तो मुश्किल है कि बहते-बहते क्षण बीत चुकता है और नया ही पुराना बन जाता है। नये के नारे पर फैशन की दुकानें चला करती हैं। क्या न उन निपुणों का भी कारबार चलता रहे जो अन्ततः फैशनों पर पलते हैं *अन्तरो फैशनों की पूँजी से चलते हैं। इस निमित्त यह उचित हो सकता है* कि उस चर्चा में थोड़ा समय हम उसी तरह दे दें जैसे कलब में दे दिया करते हैं। अधिक वहाँ महत्व और सार मान लिया जाएगा तो प्रदर्शन बढ़ेगा दर्शन कम होगा। यह लाभ की बात नहीं होगी।

▪ मूल बात तो यह है कि कहानी का जन्म कहानीकार की पीड़ा में है और पाठक के लिए उसकी सार्थकता इसमें है कि कहानीकार की पीड़ा कहानी द्वारा सम्प्रेषित हो उनके अपने सुख दुःख से जुड़ती है। क्या यही कहानी के आकर्षण का रहस्य नहीं है?

—हाँ कहानी द्वारा लेखक की सम्वेदना अनेक पाठकों से जुड़ती है, यही उसकी सच्ची सार्थकता है। अर्थात एक अनेक में बटता व्याप्त होता है।

* जैनेन्द्र जी, आपने कहा कि ज्ञान कहानी के मार्ग में बाधक है। कहानी छलकने में से निकलती है। आपका दार्शनिक क्या आपके कहानीकार के मार्ग में बाधक नहीं है ?

—बहुत बाधक है लेकिन दार्शनिक मैं हूँ कहाँ ? मैं अपने को निपट जिज्ञासु मानता हूँ।

अक्सर अपने ऊपर परोक्ष और व्यंग्य जहाँ तहाँ रखता हूँ। मुख्य बात उसमें यही रहती है कि जैनेन्द्र यह भी है वह भी है उसकी हर बात यह भी है वह भी है। दार्शनिक का यह लक्षण तो नहीं होना चाहिए। पर मेरी गति सचमुच ऐसी ही है निश्चिति मुझे प्राप्त नहीं है। बल्कि जो विपदा है, उसमें से हठ और आग्रह और आदर्श उपदेश निकल आते हैं और स्नेह प्रेम कुचल जाते हैं। मुझे उन परोडियों और कटाक्षों में सदा ही बड़ा रस मिला है और मैं उनसे पूरी तरह सहमत [illegible]। मेरी सी गति भगवान किसी को न दे।

ज्ञान की जड़ अहं में है। प्रेम अहं के विसर्जन का नाम है। इसलिए ज्ञान और प्रेम में सदा लड़ाई चलती है। मैं प्रेम का बिन बिका गुलाम हूँ। द्रोह करके ज्ञान की पकिन में कैसे बैठ सकता हूँ ?

कहानी को मैं प्रेम तत्त्व से जुड़ा देखना चाहता हूँ। विच्छेद जहाँ दीखता है जहाँ जानकारी और जवाबदारी स्नेह की इस सहानुभूति को दबा डालती है वहाँ ही मुझे अरुचि और अतृप्ति सदा बनी रहती है।

* जैनेन्द्र जी आपने कहानीकार होने से इनकार किया। किन्तु आपके अतिरिक्त आपके कहानीकार होने से कौन इनकार कर सकता है ? दार्शनिक होने से आपके इनकार को भी इसी रूप में लेना होगा। अब मैं आपसे कहानी के उपयोगिता-पक्ष पर उसके देश सम्बन्धी दायित्व पर राष्ट्रीय दायित्व पर प्रकाश डालने का अनुरोध करता हूँ।

—इन्कार कहानीविद होने से किया है, कहानी संग्रहों के भाग पर भाग निकलने पर कहानीकार होने से इन्कार मेरा क्या चलेगा ? ज्ञान से इन्कार है, कर्म का स्वीकार है।

देश को मैंने नक्शे में देखा है। उससे बाहर तो आदमी ही आदमी दीखते हैं नक्शे की तरफ यदि अपना दायित्व मैं मान लू तो काम बहुत आसान हो जाएगा। मैं वह आसानी नहीं चाहता। नक्शा गणित के अंकों में और ड्राइंग की रेखाओं के काबू में आ जाता है और तत्सम्बन्धी बढ़िया से बढ़िया योजना बिना प्रेम के योग के परिपूर्ण बनाई जा सकती है। मेरी हालत यह है कि मैं उस कम्बख्त से परेशान हूं जिसे प्रेम कहते हैं। दूसरे सबको भी उसी से परेशान पाता हूं। रेखागणित या अंकगणित में से मिलने वाला सारा स्वस्थ राजनीतिक जो प्रेम न करती है वह उससे स्वास्थ्य और बल पाता है। मुझ में रोग गहरा है और उसका उपचार साहित्य में से भी पर्याप्त मिल नहीं पाता। कभी धर्म की भी आवश्यकता जान पड़ती है।

मानव व्यक्ति सामने है मानव जाति का बड़ा व्यक्त मूर्त पक्ष है। व्यक्ति की रचना में जाति की एकता सम्पन्न एवं निष्पन्न होने ही वाली है। बाकी एकताओं की मुझे चिन्ता नहीं है। मैं समझता हूं कहानी को भी उस चिन्ता की आवश्यकता नहीं है।

यह जो धारणात्मक है जिसको वह ने दृढ़ और पुष्ट करके मानो अनल सत्य बिना लिया है वह सब सापेक्ष है। जो चाहिए वह मानव व्यक्ति की निरपेक्ष स्वीकृति है। विचार यदि प्रथम और व्यक्ति द्वितीय होगा तो दृश्य उपस्थित हो सकता है कि अमुक धर्म विचार मत विचार या दल विचार के लिए हजारों-लाखों की बलि दी जा रही हो, और निश्चल निर्वेद भाव से दी जा रही हो ! साहित्य में और साहित्य के अन्तर्गत कथा-कहानी से अपेक्षा है कि वह व्यवस्था के ऊपर व्यक्ति की प्रतिष्ठा करे और सब प्रकार के विचारों के दीप पर मानव को मत्य रूप में अभ्यर्थनीय बनाए। साहित्य का दायित्व है तो यह है। यह दायित्व हर वैचारिक मान्यता या जातीयता अथवा राष्ट्रीयता

से उत्तीर्ण ठहरता है। सच पूछिए तो दृप्त और तप्त राष्ट्रवाद ही आज का संकट है और युद्ध के मूल में भी वही है।

■ तात्पर्य यह है कि कहानी जातीय राष्ट्रीय आदि आरोपित प्रयोजनों से शून्य होनी चाहिए यानी जीवन की हो तरंगों हुई फांक होनी चाहिए ?

—शून्य की जगह मुक्त कहिए। अर्थात कहानी अन्दर से रिक्त नहीं हो सकती। *जीवन किसी ऐसी अंतिमता का नाम नहीं है जहाँ राष्ट्रीय अथवा* जातीय सब प्रयोजन समाप्त हो जाएं। अर्थात जीवन का हर चित्र और साहित्य की हर कहानी उस प्रकार के नाना प्रयोजनों से अछूती नहीं हो सकती। हर कोई सीमितता में रहता और जीता है। जीवन का अर्थ सीमा का अस्वीकार नहीं है। सारे प्रयोजन सीमा के साथ हैं लेकिन आस्था असीम की ओर चलती है और वही मूल पूंजी है। उस आस्था से सब प्रकार के सब प्रयोजन पुष्ट होते हैं नष्ट तनिक भी नहीं होते। किन्तु जब हम प्रयोजन को ही अपने आप में पोसना और पालना चाहते हैं तो यह दूसरे के, प्रयोजन से टक्कर में आ जाता है इस तरह स्वदेश राग विदेश द्वेष पर पलने लग जाता है। प्रयोजनीयता के तल पर साहित्य को उतारने में यही खतरा है। आज आवश्यकता के दबाव में आकर हम राष्ट्रीय रचना मांग सकते और उसकी अभ्यर्थना कर सकते हैं, लेकिन काम निकलने पर कल को वह हमारे लिए भूल जाने लायक पदार्थ बन सकता है। जिसका यह भाग्य होना हो उसे साहित्य नहीं कहते।

■ जैनेन्द्र जी 'उसने कहा था' से लेकर नई कहानी तक हिन्दी कहानी की प्रगति के बारे में आपके क्या विचार हैं ?

—विचार खराब नहीं हैं इतना जानता हूँ। क्या हैं यह बताने लायक मन्शा नहीं उन्हें नहीं जानता। कहानी को मैं धारा नहीं मानता कि जैसे गंगोत्री से निकलकर हिन्द महासागर में पड़ने वाली गंगा है। हर कहानी का अपना व्यक्तित्व होता है और सब कहानियां मिलकर कोई एक धारा बना देती हैं जो कालानुक्रम में बढ़ती है, यह धारणा मेरी नहीं है। बुद्धिवादियों द्वारा

पश्चिम से लाई हुई परिपाटी यह चल पड़ी है जो इतिहास की भाषा में ही जीवन और जगत को समझना चाहती है। मेरे पास कोई बहाना यह मानने का नहीं है कि अगर दो हजार वर्ष पहले महाभारत लिखा गया तो गुण में आज सवेरे लिखी गई मेरी कहानी उससे ठीक दो हजार वर्ष आगे है। समय के अर्थ को इस रूप में समझना केवल स्वार्थ से लगना और परमार्थ से दूर होना है। हर नया लेखक आगे है और 'उसने कहा था' नाम की कहानी मील के पत्थर की तरह बस अपनी जगह गड़ी रह गई है, ऐसा मैं नहीं मानता। उस प्रकार से सोचने की मेरे लिए कभी आवश्यकता नहीं हुई। ऐतिहासिक भाषा से अलग नैतिक भाषा में साहित्य विचार हो तो मैं समझता हूँ यह अधिक सार्थक और सारगर्भ होगा। तब समय का प्रवाह हम को नहीं बहायेगा और हम किन्हीं स्थिर मूल्यों को पहचान और पकड़ सकेंगे।

■ साहित्य को अथवा कहानी को ऐतिहासिक भाषा में नापने पर मेरा आग्रह नहीं है। किन्तु क्या आप यह नहीं मानेंगे कि 'उसने कहा था' की स्थिति से बढ़कर कहानी जिसमें हिन्दी कहानी ही नहीं अन्य भारतीय भाषाओं की कहानी भी सम्मिलित है आज हमारे साहित्य की वह विधा बन गई है जिसमें यह विश्व-साहित्य की समता कर सकती है?

■ तो क्या मैं यह मानूँ कि 'उसने कहा था' विश्व साहित्य की समता नहीं कर सकती, और वह केवल हिन्दी साहित्य अथवा पुरातन साहित्य है? जी नहीं, मैं उस तरह नहीं सोचता। हर बूँद अगर वह अपनी जगह निर्मल है तो निश्चय ही नहीं ब्रह्माण्ड की निर्मलता में योग देने वाली है। विश्व की भौगोलिक एकता और अपनी भौगोलिक विस्तृति की ओर अधिक सम्भ्रम से देखने की आवश्यकता नहीं है। स्वयं होकर आंचलिक होकर प्रादेशिक होकर रचना सहज भाव से सार्वभौम हो सकती है। प्रश्न प्रेम की स्वच्छता एवं अविरतता का है।

आज स्वीकार करना चाहिए हमारी माँग सूक्ष्म की ओर बढ़ रही है। पहले स्थूल में पेला जाता था। प्रयोजनाश्रित रचनाएँ मन को भा जाती थीं।

एक लम्बे अर्से तक समाज का सुधार और कुरीति का निवारण मानो कहानी-लेखन के प्रेरणा-सूत्र बने रहे। 'नई कहानी' अवगाहन में जाता है। यह इसकी प्रगति शुभ है। लेकिन यह तो समग्र काल की ही गति है और जीवन विकास स्थूल से सूक्ष्म की ओर चलना ही है। आज सूक्ष्म संवेदनाओं के आकलन का प्रयास अधिक दीखता है घटना के घटाटोप का आग्रह कम है और यह शुभ लक्षण है।

■ बूढ़ों के महत्त्व को घटाना मेरा उद्देश्य नहीं। मैं तो केवल यह कह रहा था कि गत वर्षों में प्रेमचन्द, जैनेन्द्र, यशपाल, अज्ञेय, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार और मोहन राकेश आदि कहानीकारों ने समग्र रूप में कहानी को इतना कुछ दिया है कि वह स्तुत्य और प्रशंसनीय है।

—जैनेन्द्र को गिनती से बाहर कर दीजिए। वह जरूरत से ज्यादा मनमाना है। न भाषा को सँवारता है और न शिल्प को। ऐसे अहंनिष्ठ का विचार की सभा में से बहिष्कृत रखना चाहिए। यह मैं किसी निजता के प्रभाव में नहीं कह रहा हूँ, वस्तुनिष्ठ विचार की दृष्टि से ही कथन को छूट दे रहा हूँ।

अन्य रचनाकारों में प्रेमचन्द और यशपाल मुझे वे प्रतीत होते हैं जिनके पास कथ्य है और तत्सम्बन्धी पुष्टता और निष्ठा है। शिल्प और कला इन दोनों के लिए साध्य नहीं है और यह श्रेय की बात है। अज्ञेय गहरे जाते हैं और सूक्ष्मता को हस्तगत किया चाहते हैं लेकिन कला मानो उनके निकट साध्य हो जाता है और कथ्य कथन की मीनाकारी में गौण और झीना पड़ने लगता है। चन्द्रगुप्त जी बड़े स्वस्थ लेखक हैं इतने कि इसी कारण न उनसे ईर्ष्या होती है न उत्तेजन मिलता है। मुझे लगता है लेखक को अवश्य किंचित हीन और असामाजिक होना चाहिए। चाहिए से मतलब होनहार ही वह होता है। चन्द्रगुप्त जी यश-मान नहीं ले सकते। मोहन राकेश की कहानियाँ मुझे सदा भिगाती और छूती रही हैं और यह मुझे अच्छा लगता है कि जाग्गार ववाय का वह बचाते हैं और रंग ताव नहीं देते। मैं बड़े चाव से दूसरे लेखकों की भी कहानियाँ, जब हाथ आती हैं पढ़ जाता हूँ और कुल मिलाकर मैं देख रहा

हूँ कि हमारा संवेदन और सत्य सूक्ष्मतर होता जाता है और वातावरण की प्रतिष्ठा बढ़ रही है। सुधार या उद्धार के आग्रह में वातावरण पर बलात्कार होने लग जाता था और प्रेमचन्द जी में यदि इसका अवकाश था तो यशपाल जी में और अधिक है। मतव्य अधिकांश तो इनकी कहानी में रमा रहता है, पर कभी उसके ऊपर भी बैठा हुआ दीखने लग जाता है।

मानना होगा कि आज के दिन कहानी सबसे अग्रस्थ माध्यम है। यों तो उपन्यास बड़ी उपलब्धि है और प्रभाव भी उसका घना होता है। लेकिन समय *की गति में द्रुतता आ रही है और उपन्यास का कलेवर उस पर बोझिल पड़* सकता है। कहानी प्रवाही है और वृहत्काय नहीं हो सकती। यह अधिक समयानुकूल है और कहानी पर एक तरह अधिक दायित्व आ आती है।

आजकल जहाँ-तहाँ दीखने वाली कहानियों के आधार पर मैं यह कह सकता हूँ कि हिन्दी के लेखक उतने ही प्रबुद्ध और जाग्रत हैं स्थिति के प्रति उतने ही तत्पर हैं, जितने देश की अथवा विदेश की दूसरी भाषाओं के मान्य लेखक समझे जा सकते हैं। डर यही है कि कला और शिल्प यदि अपने आप में साध्य बनेंगे तो अन्तर्यामी ऊपर आ जाएगी आत्मदान अकुण्ठित हो नहीं पाएगा कला की अड़ावट सजावट या उसकी घिस माँज का कहीं कुछ आधिक्य और अतिरेक तो नहीं हो रहा है, ऐसी शंका होती है। लेकिन प्राणवेग इस कौशल की अतिशयता के लिए अवकाश नहीं छोड़ने वाला है और आज के विश्व का या हर कहीं का आकुलित एवं विचलित जीवन स्वयं इस अतिरेक का उपचार करता रह जा सकता है।

● ● ●

कहानी :
प्रेरणा, प्रभाव और शिल्प

जैनेन्द्र जी, हमारी भेंट का आपको स्मरण होगा। उसमें आपने 'अहंनिष्ठ जैनेन्द्र' को विचार की सभा में बहिष्कृत रखने को कहा था। आज हम उसी गिनती से बाहर व्यक्ति पर अलग से चर्चा करेंगे। कहिये, इसमें आपको कोई आपत्ति तो नहीं ?

—आपत्ति हो तो भी क्या आप टलने वाले हैं ?

नहीं लेकिन इस प्रकार स्वेच्छा से बहिष्कार का मार्ग अपनाकर क्या आपने स्वयं को विशिष्टता प्रदान नहीं कर दी ?

—इसीलिए कहता था कि आपत्ति से क्या फायदा है ? अन्य बाण आपकी तरफ से शायद पीछे आयेंगे, पहले इसी प्रतिष्ठा वाले का झेल लिया जाए।

हाँ, आपकी बात सही भी हो सकती है। प्रतिष्ठा अपनाने का भी वह बहाना हो सकता है। लेकिन क्या प्रतिष्ठा ऐसी बुरी चीज है कि उसे अपनाने से डर हो ?

क्या अच्छा यह न होगा कि प्रतिष्ठा अप्रतिष्ठा को अलग करके बात आगे चलाई जाए, क्योंकि वर्ना हमारे बीच संशय आ जाएगा और हेतु परस्पर-विरुद्ध पड़ जाएँगे। इस तरह चर्चा बेकार हो जाएगी।

अपनी उस दिन की भेंट को मैं अपूर्ण मानता था। जैनेन्द्र का व्यक्ति और शिल्प विशिष्ट है यह स्वीकार करना होगा। इसलिए उस पर विस्तार से विचार की आवश्यकता हुई।

—अच्छा आप कहते हैं तो स्वीकार किया। फिर ?

■ फिर हम आरम्भ में चलेंगे—और मैं आपसे कहानी लिखना आरम्भ करने की मूल प्रेरणा पर प्रकाश डालने को कहूँगा।

—मुझे मूल का ठीक पता नहीं है। एक बन्धु शान्ति और उसी तरह के कामों में उखड़ कर बेकार हो गए और बेकारी में काम खोजते हुए दिल्ली आए। यहाँ कोशिश से उनको प्राइमरी स्कूल में मुदर्रिसी मिली। आदमी ऊँचे विचार के थे और कल्पनाभिमग्न थे। चौथे दर्जे तक का स्कूल और उन्होंने वहीं हाथ लिखी पत्रिका जारी की। बड़ी सज-धज और उद्यम से उसे सँवारते थे। उसी के लिए पहली दूसरी तीसरी कहानी लिखी गई होगी। लिखते वक्त कहानी है यह भी पता मालूम होता था। चिट्ठी आती थी और जो मन आया लिख भेजता था। पहली कहानी में शायद व्यंग्य के साथ उपदेश देने की मैंने ठानी होगी। दो एक पैराग्राफ के बाद एक नेता उसमें अंग्रेजी में बोल पड़ते थे। उन अंग्रेजी की वक्तृता के दो चार वाक्य लिखने पर पता चला कि जहाँ चीज जाने वाली है वहाँ पाठशाला के बच्चे होंगे अंग्रेजी कौन समझेगा ? इसलिए उसे रद्द किया गया और वह पीछे एक प्रेस के नाम से छपी। उसकी जगह नये ढंग की घटना लिख भेजी जो कुछ रोज पहले मेरे साथ घटी थी। उसके आगे भी कल्पना से कुछ जोड़-जाड़ किया और वह 'फोटोग्राफी' बन गई। उसी हस्तलिखित पत्रिका 'ज्योति' के लिए खेल और चोरी बनीं। ये तीनों कहानियाँ पीछे दूसरी पत्रिकाओं में छपीं। लेकिन ये सब लिखते वक्त प्रेरणा का प्रश्न भी न हुआ था। बन्धु की चिट्ठी का उत्तर जरूरी होता था और मैं मनमाना लिख भेजता था। क्या पता था कि ये रचनाएँ कहानी कहलायेंगी और मुझसे एक दिन जवाब तलब होगा। मूल प्रेरणा को लेकर वक्तव्य अब मैं कहूँ तो क्या कहूँ ?

■ जैनेन्द्र जी आपने कहा कि अपनी पहली दूसरी तीसरी कहानियाँ लिखते वक्त आपको यह भी नहीं मालूम होता था कि ये कहानी हैं। लगभग ऐसा ही आपका वह वक्तव्य है जो मुझे स्मरण पड़ रहा है कि कहानी के क्षेत्र में

जैनेन्द्र का प्रवेश राजमार्ग से नहीं हुआ, किन्तु क्या आप यह नहीं मानते कि मूल में आपके अन्तरतम का वह भाव वेग था जो व्यक्त होने को निरन्तर व्यग्र था और आपको अपने आपको उड़ेल देने के लिए विवश किए डालता था ?

—अन्दर कुछ भाव था यह मानने में उज्र क्या हो सकता है। लेकिन वह बन्धु मुर्रिम न बने होते और उन्होंने पत्रिका न निकाली होती, तो अधिक सम्भव था कि मेरा लिखना ही न हो पाता। यानी लिखने की कोई विवशता मैं अपने जीवन में नहीं देखता। बरसों बरस गुजर गए हैं और मैंने एक हरफ नहीं लिखा है। अन्तःप्रेरणा की कोई विवशता होती तो यह हरामगीरी मुझ से नहीं हो सकती थी। अभी देखिये कि लिखने के सिवाय कोई मन काम का काम नहीं किया है, लेकिन जितना लिखा है उतना तो कोई प्रामाणिक कार्यकर्त्ता तीन साल में लिख फेंक सकता था। नहीं कोई भीतरी बेबसी मुझ में नहीं थी। मुझ में न कुछ वक्तव्य है न सन्देश है। जैसे बोल लेता हूँ वैसे ही लिख भी जाता हूँ। बहुत अधिक आयास प्रयास की मुझे आदत नहीं है। न ऐसा कुछ मेरे पास मालूम होता है कि जिस पर आयास खर्च किया जाए। पाठकों और आलोचकों की ओर से जो कभी सुनना पड़ता है उसको अगर भुला दिया जाय तो मैं अपने बारे में किसी भूल में नहीं हूँ। अर्थात् मैं जानता हूँ कि मैं नहीं जानता।

प्र० आप कहते हैं कि लिखने के सिवाय कोई मन काम का काम नहीं किया। क्या लिखना अपने आप में सब कामों से बढ़कर काम नहीं है ? महमूद गजनवी के भारत पर आक्रमणों या उसके साम्राज्य को आज कौन याद रखता है ? पर उसी के दरबार के फिरदौसी का शाहनामा आज भी एक जीवित सत्य है। शासक और सत्ताधारी जो राज्यों और साम्राज्यों का निर्माण करते हैं वे इतिहास में स्मारक स्तम्भ की भाँति जहाँ के तहाँ गड़े रह जाते हैं। पर लेखक विचार के प्राण वेग के संचारण के कारण शताब्दियों के आर-पार जीवित रहता है। फिर लेखक के काम को हम छोटा कैसे मान सकते हैं ?

—नहीं नहीं लिखने की तारीफ आप मुझसे न कीजिए। उससे अहंकार

उद्दीप्त हो सकता है और वह घाटे की बात है। आप कहते हैं लिखना बडे काम का काम है। काम का नही यह तो मैने भी नही कहा। कैसे कह सकता हू ? उसी की खा रहा हू नही तो नौकरी ढूढने गया तो क्या बीस पच्चीस रुपए की नौकरी भी मुझे मिल सकी थी ? एकदम नही मिल सकी थी। अब यह मौका है कि आप तक से बात हो रही है। यह अवसर जिसकी बदौलत आया है वह लिखना सचमुच बेकाम नही कहा जा सकता। लेकिन इससे आगे आप मुझे छल मे नही डाल सकते। जैसे और काम हैं ठीक वैसा ही यह लिखने का काम हो सकता है, उनसे कम या अधिक मूल्य का मैं उसे नही मान सकता। मेहनती से और किसान से मैं अपने को किसी बूते भी कोई खास नही समझ सकता हू। सच यह है कि लिखना कोई काम ही नही है। काम होता तो कबीर जुलाहे क्यो बने रहते और तुलसी ने भी कभी अपने को 'रायल्टी वाला कवि क्या न माना होता अन्त तक भिक्षुक क्या माना होता ? यह सब इसलिए कि लिखना काम नही होता है। यह तो पश्चिम ने उसे धन्धा बना लिया है और कम्यूनिज्म ने तो सबसे ही ठाठ का धन्धा बना दिया है। समाज और राज की महिमा ही कहिये कि जो चाहे बना दे। सच में गहरे जायें तो जाना पडेगा कि लिखने को काम मानना और धन्धा बनाना शुभ नहीं है। फिर भी अगर उसकी दुहाई दी जाती है तो मैं उन दुहाई देने वालो को धन्यवाद भी दे सकता हू क्योंकि अन्त में उससे मेरा स्वार्थ ही सिद्ध होता है।

■ किन्तु जैनेन्द्र जी जुलाहे और भिक्षुक क्या सख्यातीत नही ? अपनी वृत्ति से अतिरिक्त कारण से ही कबीर और तुलसी हमारे लिए अविस्मरणीय हैं, क्या यह ठीक है कि समाज के किसी व्यक्ति का पेट दूसरो की ठठरियों के पसीने पर न पनपे। लेखक और कलाकार अपने को भौतिक अथवा शारीरिक श्रम से सम्पृक्त करने का दृष्टिकोण अपनायें और अपने को जन-जीवन के समीप रखें इससे अधिक शुभ एव श्रेयस्कर और क्या हो सकता है ? अब जैनेन्द्र जी, आप यह बतायें कि प्रेमचन्दजी के सम्पर्क में आप कब आये और उनसे किस रूप में प्रभावित हुए ?

—मैं चिट्ठी से उनसे पहले पहल सन २७ में मिला हूगा। स्वयं सन् २८ के अन्त में।

—सब से ज्यादा उनकी बेबाकी और बेगानगी का मुझ पर असर पड़ा। मैं नामी आदमी के पास गया लेकिन मिलने पर मालूम हुआ कि जैसे उन्हें मालूम ही नही है कि वह नामवर हैं। यों तो अनजान कहना उन्हें मुश्किल है लेकिन यह ज्ञान उनके भीतर तक नही उतर सका था और उनकी साधारणता को उनसे नही छीन सका था। इसकी झलक उनके लिखने में भी है। मानो लिखने वाला लिखे गए चरित्रों से अलग और अन्य कुछ है ही नही कुछ रहना ही नहीं चाहता। यह निनामी आदमी के लिए कम सम्भव होता है। वह मानो ऊपर से लिखता है और चरित्रों को अपनी अधीनता में रखता है, उन्हें स्वतन्त्र नहीं होने देता। एन उनका व्यक्तित्व अव्वल तो बनता नही या बनता है तो वह बनता है जो स्वप्रतिष्ठ नही होता लेखक के (अधिकाश मतवादी) प्रयोजन का उपकरण मात्र होता है। प्रेमचन्द का यह निरीह स्वभाव मुझे ऐसा छू गया कि उसके लिए मैं अब तक उन्हें याद करता हूँ। पहली बार आये तो क्या देखता हूँ कि गली में से कम्बल कधे पर डाल और हाथ में झोला लटकाये चले आ रहे है, तार न खत, बस, बखबर चले आ रहे हैं। बोले— तार में फिजूल बारह आने डालने से क्या फायदा था? आखिर घर तो आ पहुँचा न ।' यह चीज अब बहुत खोजता हूँ, लेकिन बहुत ही कम मिलती है। बाकी प्रतिभा वगैरह तो सब ठीक है, लेकिन यह चीज जैसे जड की है। जैसे जड ही न हो तो ऊपर, सोचिये, खिलेगा क्या?

* जैनेन्द्र जी आपके कहानीकार के निर्माण में मात्र सयोग प्रेमचन्द के सम्पर्क के अतिरिक्त जिन सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों का प्रभाव रहा हो, उन पर प्रकाश डालिये।

—मुश्किल है और मेरे पास इस बारे मे कुछ प्रकाश नहीं है। इतना जानता हूँ कि जब मेरा लिखना हठात् शुरू हुआ तब मैं बहुत बेहाल और बदहाल था। यहाँ तक कि मरने की बात सोचा करता था। ऐसे में कोरा तत्व सिद्धान्त

काम नहीं दे सकता, न प्रिय हो सकता है । हर तत्त्ववाद को मानो सवप्न का कसौटी पर उतरना और अपने को खरा साबित करना होता है। सबसे प्रथम तथ्य और मूल तत्त्व है दुःख—इस बौद्ध कथन का भी शायद यह सार है । इसी अनिवार्यता में स विचार को मानो कहानी बनना पड गया । इससे अधिक मैं कुछ नहीं कह सकता ।

इधर उधर की जो किताब हाथ आती मैं पढता तो रहता ही था । लेकिन उस पढने में से लिखना आया या कभी आ सकता था यह मैं नहीं कह सकता । लिखना शायद बाहरी संयोग के योग से ही हुआ । यहाँ दिल्ली में एक हिन्दी सभा बनी थी । मेरा सन २१ में माखनलाल जी से परिचय हुआ था जिसमें साहित्य का सदभ लेनिय न था । लेकिन वह एक बार दिल्ली आए तो चतुरसेन जी के यहाँ ठहरे । ऐसे चतुरसेन जी की कृपा और उदारता से हिन्दी सभा में उपस्थित होना मिल गया । पहली कहानी वहीं पढी गई होगी मुझे एक घटना की याद आती है । एक बडे मानी विद्वान् थे । वे सदा अभी हैं । बडी आशा से उन्हें कहानी सुनाई बडे धैर्य से उन्होंने सुनी । अन्त में यदि कुछ बात उनसे मालूम हुई तो यह कि भाषण दिया नहीं जाता किया जाता है । कहानी के लिए यानी उस पर प्रकाश के लिए मैं उनकी ओर देखता रह गया । पर जो वहाँ था या वहाँ से आ सकता था वह कुरा नमा यह दिया और किया का फर्क था । ऐसा मालूम हुआ था तब कि कहानी इत्यादि सब हुआ है दिया किया सम्बन्धी ज्ञान ही साधन है । आप सोच सकते है कि इस शिक्षा दीक्षा के अधीन मैं कहानी को महत्त्व ही कम दे सकता था। उन परम विद्वान की आलोचना का या आलोचक का मैं आदर मानूँ या नहीं, यह मैं निश्चय नहीं कर सका हूँ । लेकिन ऐसा अवश्य मालूम होता है कि भाषाविद जिस लोक में रहता है कहानी उससे की दुनिया उससे न्यारी ही होती है। दरजी मन के दुःख की बात जानने की जरूरत में जिज्ञासु नहीं है उसका काम की नाप जोख बस है । व्यवसाय का सचमुच यही गुर है । लेकिन दरजीपना भूलकर वह यदि आदमी और किसी का भाई बेटा या पति वगैरह हो जाता है तब बात अवश्य दूसरी हो जाती है । यानी कहानी (मेरे लिए) शिल्प नहीं

है। वह सवेन्न और सवेद्य है। उस प्रकार उसमे सीखने जानने को बहुत कम रह जाता है। या कहिये कि जो सीखा जाना जाता है वह सब वहाँ उपकरण भर रह जाता है अर्थात इष्ट नही आनुषंगिक होता है। मतलब यह नही कि जिन्हे मैंने पढ़ा है और जिनसे रस प्राप्त किया है उनके प्रभाव का मैं ऋण नही मानता हूँ। लेकिन आशा है कि मुझे उनमे से किसी को याद मे या नकल मे लेने की आवश्यकता नही हुई है। उनका उपकार इतना हार्दिक है कि मुझे एक क्षण के लिए भी उपकृत बनने की याद नही आती। सच यह है कि दुनिया की और जिन्दगी की जो खुली पुस्तक सामने है उसको उन्होने मेरे लिए कुछ अधिक खुली बनाने मे ही मदद की है। उस किताब के और मेरे बीच मे आने की किसी ने कोशिश नही की।

* जनेन्द्र जी मैंने सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियो के प्रभाव के विषय म जिज्ञासा की थी।

—सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक परिस्थिति की बात मैं क्या कहूँ? अठारह वष की अवस्था म मैं बालिग हुआ होऊंगा। उस सन २३ से अब सन ६३ तक इन तीनो प्रकार की या अन्य प्रकार की, जो परिस्थितियाँ यहा रही है वे उजागर है नही तो रिपोर्टों से उन्ह जाना जा सकता है। जीवन म बाहरी जो घटनाए घटी उनका मूल भी कुछ उनसे बिठा कर देखा जा सकता है। लेकिन परिस्थिति मेरे लिए कोई मन स्थिति से स्वतन्त्र अस्तित्व रखनेवाली चीज नही है। उस दृष्टि स परिस्थिति की बात करूँ तो मेरे जीवन का कच्चा चिट्ठा ही खुल निकलेगा। उसे खोलना मुझे मजूर नही है। न खुले इसीलिए तो कथा कहानी और उपन्यास हैं। जी नहीं, कच्ची चीजें आप मुझसे नहीं पा सकेंगे।

* जनेन्द्र जी, आपका रचनाकाल गांधी-युग रहा जिसमे एक महान हस्ती ने जन जीवन को भीतर तक झनझना कर जागृत कर दिया। उस हस्ती का प्रभाव आपके और आपके युग के साहित्य पर कहाँ तक पडा ?

—उस तक को मैं तय नही कर सकता। मेरे मन मे समग्रता और

सयुक्तता की चाह रहती है। मुझे लगता है कि मुक्त पुरुष पूर्णभाव से युक्त भी होता होगा। गांधी को मैं उसी चरम योग के सन्दर्भ में देखता हूँ। इतिहास के दूसरे महापुरुष उस तरह युक्त और मुक्त नहीं दिखाई पड़ते मानो द्वन्द्व के दो सिरे उनमें परस्पर टकराते हैं समन्वित नहीं होते। इसी से गांधी के प्रति मेरा गहरा आकर्षण है। घटनात्मक जो हुआ यानी मैंने कालेज छोड़ा जेल गया यह सब ऊपरी बात है। शायद उसका निदर्शन मेरी रचनाओं में जहाँ तहाँ मिल भी जाता हो। लेकिन जिसको गांधीवाद कहते हैं उसका राई रत्ती भी बोध मैंने अपने दिमाग पर अनुभव नहीं किया है। वे व्याय नहीं करते हैं जो अपना बोझ गांधी के मृत्यु में से मुक्त हो जाने पर भी उन्हीं पर टिकाये रखना चाहते हैं। जो किया उसमें से मैं गांधी को नहीं देखता हूँ जो वह हुए उसी को सीधे देख लेना चाहता हूँ। इस तरह गांधी मेरी अपनी मुक्ति में सहायक ही हो सकते हैं मुझे बांध नहीं सकते।

■ इसी युग के एक अन्य महापुरुष रवीन्द्रनाथ को आप मुक्तात्मा मानते हैं या नहीं? यदि हाँ तो क्यों और नहीं तो क्या नहीं?

—मुक्त को शायद निर्गुण होना चाहिए। यानी कोई विशेषण उस पर सही सही बैठ न सके। गांधी महात्मा थे और बाहरवालों के लिए दुरात्मा थे। कोई ऐसा शब्द नहीं है कि उसका प्रतिरोधी विशेषण भी उसी तरह गांधी पर लगाया न जा सके। पर रवि ठाकुर को बेठ निश्चय से हम कवि कह सकते हैं, और शायद अकवि कोई नहीं कह सकता। रवीन्द्र की विभूति सगुण है। गांधी को उस प्रकार रूप वर्ण के ऐश्वर्य में से देखना मुश्किल होता है।

■ जैनेन्द्र जी, आपने कहा कि कहानी के शिल्प में आप विश्वास नहीं करते फिर भी क्या कहानी शिल्पहीन हो सकती है?

—नहीं हो सकती। पर क्या कोई शिशु ऐसा हो सकता है जिसके भीतर वह जटिल यन्त्र न हो जिसे मानव यष्टि कहते हैं? लेकिन एक अबोधा भी माता बन जाती है और उसे उस जटिलता का कुछ पता नहीं होता जिसका निष्पन्न रूप उसका शिशु है।

कथा का शिल्प हो सकता है और उसको जानने की भी आवश्यकता हो सकती है। किन्तु शरीर यन्त्र का कितना भी ज्ञान हो, क्या केवल उस भरोसे किसी वैज्ञानिक ने अपने में से शिशु की सृष्टि की है ? शायद ज्ञान अपनी खातिर सृष्टि मर्म से संगत हो नहीं है।

■ तात्पर्य यह कि आप अपने कहानी शिल्प के विषय में विशेष जानकारी का दावा नहीं करते। यही न ?

—हाँ बिलकुल यही।

■ लेकिन, आप लोगों की इस धारणा के विषय में क्या कहेंगे कि आपकी कहानियाँ प्रश्नान्त होती हैं ? साथ ही आप हमारी परस्पर की चर्चाओं में कभी कभी व्यक्त किए गए अपने इस वक्तव्य के विषय में क्या कहेंगे कि आपकी कहानियाँ थियोरम में से निकलती हैं?

—दोनों बातें ठीक हैं। प्रश्नान्त होती हैं मेरी कहानियाँ क्योंकि प्रश्न मुक्त में है और शान्त नहीं है। फिर यह कि कहानी थियोरम में से निकलती है, मानो अपने आप अनिवार्य हो जाता है। मैं श्रद्धा का विश्वासी हूँ लेकिन प्रश्न का अविश्वासी हूँ। इसलिए प्रश्न मेरी कहानी में नोचता काटता सा नहीं आता, बल्कि समाधान खोजता पूछता सा आता होगा। संसार प्रश्न है ईश्वर समाधान है। लेकिन मेरा ईश्वर संसार के प्रश्न को बन्द नहीं करता है प्रत्युत अनन्त काल तक मानो उसे खुला रखने को तैयार है। अर्थात श्रद्धा में मैं अनन्त प्रश्न का समावेश सम्भव देख सकता और बना सकता हूँ। बल्कि मुझे लगता है कि आस्तिक होकर ही प्रखर नास्तिक हुआ जा सकता है। अन्यथा नास्तिकता में भी प्रखरता नहीं आयेगी, जड़ता बनी रह जायगी।

प्रश्न के लिए आवश्यक है कि वह जिज्ञासा रहे, आलोचना न बने। यह सम्भव श्रद्धा के योग से ही हो सकता है और मैं आशा करता चाहता हूँ कि मेरी कहानी के गर्भित प्रश्न में अहवाद का दर्प नहीं रह जाता, आवाद और जिज्ञासा भले रहती हो।

■ अच्छा, जैनेन्द्र जी, आजकल कहानी के लिए आवश्यक समझे जाने वाले

बोधों—युग बोध तत्त्व बोध रस बोध, भाव बोध, सूक्ष्म बोध और दल बोध तथा अन्य अनेक बोधों को, आप कथा की आत्मा अथवा कथा शिल्प के लिए कहाँ तक संगत और सार्थक मानते हैं?

—मैं भी उन बोध-व्यूहों की चर्चा कभी देखता और कभी पढ़ता भी हूँ। पढ़ कर, भई चौकड़ी भूल जाता हूँ। बड़े लोगों की भीड़ के बीच कोई अनाड़ी पड़ जाए, तो उसका जो हाल हो वही मेरा होने लगता है। कहानी के मामले में बोध वाला माल मुझे जरूरत से भारी मालूम होता है। शायद वह शायद कहानी में कहीं ऊपर अधर में विराजा हुआ रहता है या कहीं वह अचल शायद है। कहानी के मर्म तक जाने का उपाय उसके पास नहीं है। बोध मानो कूटस्थ स्थित तत्त्व है, कहानी की जान गति है। इसलिए बोध ही है जो कहानी को जड़ और निःस्पन्द बना दे सकता है। हमारे नये बन्धु जितने हिन्दी कहानी के क्षेत्र में आ रहे हैं सब खूब पढ़े लिखे होते हैं। इसलिए बोध के चक्कर में वे पड़ें तो वे इसके अधिकारी माने जा सकते हैं। मैं अपने अभागे भाग्य का कृतज्ञ हूँ कि उस अधिकार से वंचित हूँ। जीने से इतना घिरा हूँ कि अतिरिक्त जानने से आसानी से किनारे छूटा रह जाता हूँ। ऐसा लगता है कि बहुत अक्षर-पाठी लोगों को कुछ निरक्षर पाठों की आवश्यकता है नहीं तो उनकी कहानी उनके साथ इतनी विद्वान बन जा सकती है कि सही राही जी न पाए। कहानी के लिए एक अकेला प्यार बहुत काफी है, फिर सारे दूसरे बोध नष्ट भी हो जायँ तो कोई हानि नहीं। समझ में नहीं आता कि ज्ञान से फूँक फूँक कर ये जवान लोग प्यार को क्यों ठंडा बनाना जरूरी समझते हैं। ज्ञान से पहले ठंडा बना लेंगे फिर शब्दों के ज्वार से उसे गरमाना चाहेंगे। यह सब चक्कर जरूरी नहीं होना चाहिए और जिनमें थोड़ा अज्ञ बनने की तैयारी चाहिए। कहानी पर बातें वे अवश्य करें जिनका वश बात में है कहानी में नहीं है। बातों का क्षेत्र ही अलग है। कहानी में जिनकी कामना है उनको कहानी लिखनी पढ़नी चाहिए।

भाई यशपाल ने एक जगह ठीक लिखा है कि अपना माल बचने का सवाल

भी आता है और वहाँ इस तरह की बातें बनानी होती हैं। उस हुनरमंदी का मामला हो तो सचमुच इस बारे में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। पर आखिर स्वाद की परख चखने में ही होती है बात कहने सुनने से सही परख नहीं होती।

* आप कहते हैं कि कहानी के लिए क्या अकेला प्यार काफी नहीं है। इसकी जरा और व्याख्या कीजिये।

—प्यार में व्यक्ति अनायास निःस्व बनना है अर्थात् स्वत्व को निछावर कर डालना चाहता है। प्यार के अतिरिक्त जब हम अपने पास कुछ राय रखते हैं तो असल में उस बहाने अपने स्वत्व को ही अपने पास संचित और सुरक्षित बनाये रखना चाहते हैं। इसमें हम समीक्षक और आलोचक बन जाते हैं और शेष सब हमारे निकट हमारी अपेक्षा दोयम बन जाते हैं। हम ज्ञाता, वे ज्ञेय। यह दिमाग की स्वत्वकारी (Appropriative) वृत्ति है और इसमें से न जागतिक सत्य हाथ आ सकता है न आत्मिक। यह एक प्रकार की स्वरति का ही रूप है। इसी से परम अनुभवियों ने चेतावनी दी है कि विद्या अविद्या भी है ज्ञान अज्ञान भी है। बोध की दुहाई से इसीलिए मुझे डर लगता है कि उसमें अनंत अहं का अर्जन और अर्चन आ जाता है और विसर्जन बच रहता है।

* क्या घृणा भी आपके उक्त प्यार के अंतर्गत आती है?

—घृणा के अत्यंताभाव में से ही प्यार उत्पन्न होता है। घृणा को समझें तो वह मूल में अपने प्रति प्यार का ही उत्कट रूप निकलेगा। स्वरत व्यक्ति चोरी और घृणा का अधिकार पा जाता है। जब यह घृणा असह्य होती है और अपने प्रति हो चलती है ठीक उसी क्षण प्यार जग उठता है। प्यार के तत्त्वदर्शन में जाने की बिलकुल जरूरत नहीं है। रोजमर्रा के उथले-से उथले प्यार में भी आप एक बात पाइयेगा। आदमी जिससे प्यार करता है पहले उसकी निगाह तक में बचना चाहता है। यानी अपने मध्य में एक हीनभाव की अनुभूति से प्यार आरम्भ होता है। उसमें प्रेमी आस और त्रास एक साथ पाता है। यह घृणा अपने से ही जो होने लगती है, अपने निज की रति से उलटे निज से

सीधा और ऊब हो जाती है तब मानो पूजा अपने से बाहर की ओर जाती है। इसी को तो प्यार का अनुभव माना जाता है।

इस तरह प्यार में स ही मैं मानता हू वह सच्ची घणा को अनिवाय और अमोघ नक्ति प्राप्त होगी जिससे हमारे परस्पर सबधो म आई घणा अनावश्यक और `यथ हो जाए। तब वह घणा निर्वैयक्तिक होगी व्यक्ति के सदभ से वह मुक्त हो जाएगी। अर्थात पाप स ही होगी और पापी क लिए प्रेम को मुक्त करने वाली होगी।

• • •

स्वातन्त्र्योतर हिन्दी-कहानी : एक विवेचन

* आज हमें विशेषकर स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कहानी के बारे में बातचीत करनी है। इस सम्बन्ध में पिछले दिनों आपके वक्तव्यों से लगा है कि इस अवधि में कहानी ने प्रगति नहीं की है। क्या आप सचमुच मानते हैं कि पिछले वर्षों में हिन्दी कहानी ने प्रगति नहीं की ?

—कहानी ने प्रगति की है अथवा नहीं की है, मैं समझता हूँ यह शब्दावली ही संगत नहीं है। कहानी की प्रगति का कलक्टिव्ली यानी सामूहिक रूप से आँका जा सकता है ऐसा मैं नहीं मानता। होता यह है कि कुछ लेखक अच्छा लिखते हैं, कुछ वैसा नहीं लिखते। दोनों तरफ के लेखक हर काल में होते हैं। मैं कहानी का सम्बन्ध समय से नहीं, रचनाकार व्यक्ति से जुड़ा मानता हूँ।

* इससे विशेष अन्तर नहीं आता। अब मेरा प्रश्न है—स्वतन्त्रता के बाद के कहानीकार ने पूर्ववर्ती कहानी की अपेक्षा कहानी को आगे बढ़ाया है अथवा नहीं ?

—इस अवधि में बोधात्मक ज्ञान को मान मिला है भावोत्कर्ष को नहीं। विश्लेषण का आग्रह बढ़ा है। आदर्श ओझल हो गया है। यथार्थ की कुरेद-बीन करने में प्रयत्न अधिक सीमित हो गया है।

* आज के कहानीकार का आग्रह है कि उसने समय और समष्टि के प्रति अपने दायित्व को ज्यादा शिक्षित और ज्यादा जिम्मेदारी के साथ अनुभव किया है। इस बारे में आपका क्या मत है ?

—समाज के प्रति सचेत भाव से दायित्व अनुभव करना उपयोगी नहीं

है। रचनाकार अपने को समाज से अलग मानकर ही वसा दायित्व ओढ सकता है। नय कथाकार की सवेदना व्यक्तियों के दुखो के प्रति न होकर समाज नामक सस्था के प्रति हो तो उसका विशेष अर्थ नहीं बनता है। इससे अहम्मन्यता बढती है। मैं इसीलिए समाजवाद का कायल हू। समाजवादी सहज अहवादी हो सकता है।

■ स्वातन्त्र्योत्तर कथा साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियो म आचलिकता भी एक है। *क्या आप समझते है कि यह प्रवृत्ति साहित्य के लिए श्रेयस्कर सिद्ध हो सकी है ?*

—आचलिकता शब्द तो अचल से बना है। लेकिन हाँ स्थानीयता जिसे लोकल कलर कहें उस पर विशेष ध्यान है। परिस्थिति को बारीकी म चित्रित करने का आग्रह बढा है। यही आग्रह आचलिकता तक भी गया है। प्रवृत्ति गलत तो नहीं थी पर शायद अति हो गयी। परिस्थिति के बीच मानव भावना की स्थिति क्षीण बना दी गयी। परिस्थिति अपने आप म साहित्यकार के निकट पट ही तो है। उस पर मानव चित्त की कथा और कितनी गहनता अकित हुई है, साहित्य की सफलता का मुख्य मान यही है।

■ आज के लेखक का यह भी आग्रह है कि उसने कथा को अपन पूर्ववर्तियों के रामेण्टिसिज्म से मुक्ति दिलायी है और उस यथार्थ की भूमि दी है। आप इस कथन स कहाँ तक सहमत हैं ?

—बिलकुल सहमत नही हूँ। म रोमास के बिना साहित्य की कल्पना ही नही कर सकता। आज विश्लेषण इतना बढ रहा है कि रोमास का ह्रास हो रहा है। बौद्धिकता ने हार्दिकता को ग्रस लिया है।

■ यह तो रही कथ्य की बात, अब मैं जानना चाहूगा कि आप की राय मे पिछले वर्षों म शिल्प की दृष्टि से विकास हुआ है अथवा नहीं ?

—शिल्प की दृष्टि से अवश्य विकास हुआ लगता है। सूक्ष्मता और सांकेतिकता का आग्रह बढ़ा है। लेकिन बाहर की साज-सज्जा क्या कुछ काम देगी अगर भीतर का स्वास्थ्य क्षीण हो ? क्या दर्शन म यही नही माना कि स्वास्थ्य स्वय सौन्दर्य है ? ऊपर की सौन्दर्य सज्जा स्वास्थ्य के अभाव में भाड़ा

तक लग सकती है। मुझे कई बार ऐसा लगा है कि शिल्प चातुर्य ने अमुक कहानी को बनाया या सवारा नहीं बल्कि दबा दिया है। यदि वस्त्र की बनावट और सजावट व्यक्तित्व को ढककर ऊपर उभर आती है तो अरुचि ही पैदा करती है।

■ अभी आपने कहा कि शिल्प की दृष्टि से अवश्य विकास हुआ है। आज के किन कथाकारों की रचनाओं में वह शिल्प वैशिष्ट्य है जो आपके इस कथन की आधार भूमि बनता है?

—यानी नाम चाहते हो?

■ आपको असुविधा हो तो मैं आसानी से प्रश्न वापस लेकर आगे बढ़ सकता हूँ।

—मुझे निर्मल वर्मा में शिल्प की सूक्ष्मता और सांकेतिकता मिली है। साथ ही कुछ लेखन शिल्प की अधिकता और अतिशयता से बरी है। शिल्प के आधिक्य की दृष्टि से मुझे राजेन्द्र यादव का नाम याद आ जाता है। वहाँ कौशल के नीचे सत्त्व दब सा जाता है। और भी रचनाओं में अदायगी और तर्ज पर ज्यादा जोर है। एक और भी बात है—लेखक आजकल सभी पढ़े लिखे होते हैं। एम० ए० से कम शायद कोई ही हो। उन्हें अपनी विज्ञता का पता रहता है। कहानी की कला के लिए मुझे अज्ञता बहुत आवश्यक मालूम होती है यानी कि लेखक कुछ कुछ जानना चाहता हो। लेखक जब हाथ में निर्णय लेकर लिखता है तो अज्ञात की उत्सुकता उसके लेखन में नहीं रह पाती। आज की पीढ़ी के लोग अधिकांश बहुत कुछ जानते हैं। यह तक जानते हैं कि पुरानी पीढ़ी के कुछ नहीं जानते थे।

■ आप उनके इस कथन से कहाँ तक सहमत हो पाते हैं?

—बात तो सच है। बेशक आज बेटे के मुकाबले बाप बहुत ही कम जानता है। लेकिन यह बहुत और अन्तिम और निर्णीत ज्ञान रखने की क्षमता कहानी-लेखन की क्षमता नहीं बनता। यह विद्रोह आदि के मामले में ज्यादा काम की साबित हो सकती है जहाँ संघर्ष लेना जीना और जीतना पड़ता है। कहानी के लिए तो सहानुभूति की अधिक अपेक्षा है। वह अपने को कम मान सकने की तैयारी में से सृष्ट होती है। पर क्या किया जाय, जानकार युवक अपने को अज्ञ

कस मानें ?

■ आपकी बातों से लगता है कि पुरानी नयी पीढ़ी म कसाव-तनाव की स्थिति है ?

—वह तो है।

■ तो क्या यह स्थिति साहित्य के लिए श्रयस्कर भी है ?

—श्रेयस्कर न हो लेकिन फल आने से पहले छल यदि नहीं भुक पाता तो दोष उसे कसे दिया जाये ? विद्रोह की अवस्था हर जीवन म आती है । उस अवस्था म व्यक्ति अपने को अपरिपक्व मान ही नहीं सकता । उचित यही है कि उस अपरिपक्व न कहा जाय । असम्मान म से विनय या नम्रता को नहीं उपजाया जा सकता । आगे पीछे तो स्वभाव म वह आजव आयेगा ही । किन्तु जब 'एडोलोसेंस (अल्हड़पन) की यह अवस्था हो तब सामने न पड़ना ही इष्ट है। बल्कि ऐसी अवस्था म कुछ और प्रशंसा देते रहना भी हितकर हो सकता है।

■ वह किस दृष्टि से ?

—दृष्टि यह कि वह उसमे कहीं दबा हुआ है । वह अपने को आजाद और सक्षम समझना चाहता है । यह थोथी तृष्णा है। बढ़ावा देने से वह दमित भाव दूर हो सकता है और वह अपने प्रकाशन का मार्ग पाकर स्वास्थ्य का लाभ कर सकता है।

■ आपने नयी पीढ़ी पर अपरिपक्वता का आरोप लगाया है । इसके विपरीत नयी पीढ़ी का आरोप है कि पुरानी पीढ़ी के अधिकांश लोग अति पक्व यानी ओवर राइप हो गये हैं । इस सम्बन्ध म आप क्या कहेंगे ?

—आयु के साथ एक समय जरा आती ही है और फिर मृत्यु आ जाती है। यह क्रम तो स्वत सिद्ध है । अपनी ओर से किसी का धक्का देकर जरा और मृत्यु म धकेलने की आवश्यकता अनुभव होती है तो यह कुछ अपनी ही असहिष्णुता म कारण । राज परम्परा म अक्सर देखा गया है कि बेटा बाप के मरने तक ठहरा नहीं है उससे पहले ही उसने आगे आकर बाप के सिर को काट डाला है। कारण इसम राजसिंहासन बना करता है। ऐसा कोई सिंहासन

साहित्यकार के पास नहीं है। पर स्थान पाने में काम करते आदान दाता के नीचे कोई-न-कोई आसन तो बन ही जाता है। अस्तित्व के युद्ध में इसे उचित ही क्यों कहा जाय ? जीवन-संघर्ष का यह भी एक पहलू है। पर, सच उसे समझना भी कि इसमें साहित्य अथवा संस्कृति का कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि मुझे कहना हो जरा-पीनता की ओर बढ़ते जाते बाल व्यक्ति का अतिरिक्त सम्मान देना कुछ कठिन नहीं होना चाहिए। सच पूछिए तो यह आदमी-मात्र को उस विश्राम की ओर ले जाता है। अपमान तो उलटे जीवनदायी तत्त्व है। तिरस्कार का भाव देखें तो पुरानी पीढ़ी में जीने और अपनी सत्ता रखने का भाव उभरेगा। नयी पीढ़ी को यह अनुभव नहीं है और इसीलिए पुरानी पीढ़ी को उलटे जमाव और जमाव रखने का काम उसमें हो रहा है।

※ फिर तो मैं समझता हूँ नयी पीढ़ी की यह अनुभवहीनता और दोनों पीढ़ियों के बीच तनाव की स्थिति उत्पादक ही है।

—संघर्ष और तनाव कायम रखा जाता है तो उसमें आदमी का कितना भी नुकसान होता हो, साहित्य का भला ही होता है।

※ आदमी का नुकसान भी यह दरअसल नुकसान है। और आपके हिसाब से तो क्या व्यक्ति ही महत्त्वपूर्ण है तो क्या इस तनाव की स्थिति का कोई निराकरण नहीं है ?

—तनाव की स्थिति का निराकरण चाहा ही क्यों जाता है ? उससे स्पष्ट होता है उसमें गम्भीर प्रेरणा रहती है, मनों में विकार आता है, यह सच तो है। लेकिन दूसरी ओर उत्साह भी जागता है, कर्म में प्रखरता आती है, जीवन में वेग बढ़ता है।

※ तनाव में अवश्य ही दो पक्ष होते हैं। क्या यह इष्ट है कि एक पक्ष दूसरे के मुकाबले झुक या मन्द पड़ जाय ? जिसका झुकना (सर्वमिलान) कहते हैं उसमें लगता तो है कि तनाव मिट गया, लेकिन उस पद्धति से जीवन में क्षति आती है। इसलिए निराकरण का मार्ग झुक जाना नहीं है। बल्कि तनाव स्वयं में इतना समाधान की ओर बढ़ता है। विकास की इस द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया का मार्क्स ने अच्छा निरूपण किया है। थीसिस एण्टी थीसिस की जन्माता

उसस आपका मन उसके भविष्य के प्रति आश्वस्त होता है या नहीं ?

—नई कहानी वही न जो पत्र पत्रिकाओं में नये प्रकार में छपी देखी जाती है तो क्या यह कहानी एक ढग की है ? अखबार बहुत से हैं और रोज रोज सबके नये अंक आ रहे हैं। बहुतायत और बहाव म ठीक कौन नमूना नई कहानी का है यह मैं जानता नहीं हूँ। लिखने वाले के साथ कहानी का रूप जुड़ा है और सभी तरह के लिखने वाले ह। हल्के हैं भारी हैं चोटी वाले हैं टाई वाले हैं। एक साचे म देखना मुझसे हो नहीं पाता है।

नया शब्द सदा फैशन का है। फैशन का भविष्य नही होता, केवल वर्तमान होता है।

■ आपने हिन्दी कथा साहित्य म वर्षों का प्रवाह देखा है। क्या वर्तमान की कहानियाँ विगत की तुलना म आपको अधिक सामर्थ्य वाली लगती है ?

—नहीं। न कम न अधिक। सामर्थ्य समय म से नही व्यक्तित्व म से आता है। नया १९६१ का साल गत वर्षों से समर्थ हो तो असमर्थों के लिए बने हुए पाठनालय भोजनालय और औषधालय सब खतम हो जाय और लोग कुछ न करें सिर्फ समय का आसरा देखा करें।

सामर्थ्य श्रद्धा म से आता है। श्रद्धा का जमाना यह नहा समझा जाता इसलिए सामर्थ्य का भी जमाना शायद यह नहीं है। कुछ बिखरा बिखरा है। मानस का गठाव और जुटाव उतना उपयोगी नहीं समझा जाता जितना बिखराव सामर्थ्य मे उल्टी चीज है जिस म से बिखरा दी गई यह रंगीनी और तुनकमिज़ाजी। कहानियों म ऐसा मसाला मैं ज्यादा देखता हूँ।

■ हिन्दी की नई कहानी म प्रयोगों का जो एक क्रम या नये ढग से बात कहने का जो प्रयत्न दृष्टिगत है वह आपको नया पौध के फलने फूलने का सतोष दे पाता है ?

—प्रयोग या प्रयत्न मेरी समझ मे नहीं आता। हर सृष्टि प्रयोग है। हर नई कहानी प्रयोग म से आती है। क्या पहले क्या अब ! यह प्रयोगशीलता गर्भित है जीवन म और पुरुषार्थ का नाम है। लेकिन प्रयत्नपूर्वक होने वाला प्रयोग जीवनमय नहीं होता है। इसलिए रूप शिल्प के साथ ही अधिकाश हुआ करता है जो व्यर्थता है।

■ कहानी के बारे में आपका निजी मत क्या है ? आप कौन सी दिशा को नये लेखकों के लिए श्रेयस्कर मानेंगे ?

—निजी मत कुछ नहीं है। कारण, मैं कहानी-लेखक रहा हूँ अब भी हो सकता हूँ। मत भ्र लेखक के लिए जरूरी होता है।

दिशा मुझे वह चाहिए जो किसी भी दूसरी दिशा से अलग या उल्टी होने की मजबूरी से बची रहे। दिशाएँ सब स्पेस में चलती हैं। मैं टाइम की दिशा पसन्द करूँगा जो स्पेस की किसी दिशा को नहीं काटती और सबको भरपूर बनाती है। टाइम की दिशा को आत्मिक कहना चाहिए। आब्जेक्टिव से स्वतन्त्र सब्जेक्टिव। ● ● ●

■ अपने को आज का कहानीकार मानने के नाते, वर्तमान यन्त्रणामय परिस्थितियों—खास तौर से राजनीतिक और आर्थिक शोषण की यन्त्रणामय परिस्थितियों के प्रति कहानी लेखन के स्तर पर सक्रिय पाते हैं या इन स्थितियों के साथ अपने को सिर्फ सलग्न ही पाते हैं और कहानी-लेखन के समय इन्हें ग्रहण कर सकने अथवा ग्रहण करने के बावजूद व्यक्त कर सकने में असमर्थता महसूस करते हैं ?

—परिस्थिति की क्या अलग सत्ता है ? मन स्थिति के साथ उसकी सम्बद्धता के स्वरूप पर मैं सब निर्भर मानता हूँ। लेखक परिस्थिति व्यक्त नहीं करता उसकी अपेक्षा में अपने को व्यक्त करता है। वह अपनी ओर से निर्माण योजना और सुझाता है। अपने बारे में मैं अनजान हूँ।

■ आप मानते हैं कि परिस्थिति और मन स्थिति परस्पर सम्बद्ध होती हैं। इसे हम भी मानते हैं, किन्तु आपने यह स्पष्ट नहीं किया कि परिस्थिति का अपनी ओर से निदान आपकी रचनाओं में कहाँ पर या कहाँ तक खोजा या सुझाया गया है ?

—हाँ यह स्पष्ट नहीं है। शायद मुझसे अधिक स्पष्ट हो भी नहीं सकता। मन स्थिति के मैं साथ हूँ तद्गत हूँ, इससे उसका तटस्थ ज्ञाता होने का मेरा वश नहीं है।

परिस्थिति का ज्यों का त्यों स्वीकरण या समर्थन लेखक से नहीं हो

—म काल की उतनी के निणय को अपनी मुट्ठी म नहीं लेना चाहता। अपनी रुचि म मैं आबद्ध हूँ और विवश हूँ। क्या पता कि यह इतिहास की प्रतिनिधि रुचि हो ही नहीं। अधिक स अधिक मैं इतना ही कह सकता हूँ कि मुझे अमुक कहानी या पुस्तक अच्छी लगी लेकिन उस निणय को कालक्रम पर थोप ता म नहीं सकता।

■ फिर भी ?

—जब मैंने निमल वर्मा की एक कहानी पढ़ी थी और उसका असर गहरा हुआ।

■ सारिका में प्रकाशित कहानी स आशय है ?

—हाँ पर काल दबाव का निणय उनके पक्ष म होगा कि नहीं कौन जाने ! इसीलिए अब तक कभी मैंने निणय का काम अपने ऊपर नहीं ओढ़ लिया है। विद्वान पण्डित यह काम करते आए ह और अपने व्यवसाय का वे ही अधिक अच्छी तरह जान सकते हैं।

■ क्षमा करें, कहीं एसा तो नहीं कि प्रश्नों के सही उत्तरों म आप हस्तक्षेप करना चाहते हैं ?

—हस्तक्षेप करने स मुझे भय हो एसी बात नहीं।

■ परिवतन की दृष्टि स पूछा सन साठ क पहले की और सन् साठ के बाद की कहानी म क्या आपको कोई विशेष अन्तर नजर आता है ?

—बौद्धिक मात्रा निरंतर बढ़ रही दीखती है। व्यक्ति म स्वरणा/मकता के भाव गहरे होते जान का यह प्रमाण है। अथात सम्यता की रुग्णता का प्रमाण।

■ नामवरसिंह क इस कथन के बारे म आपका क्या विचार है कि हिन्दी-कहानी म १९५६-६० के आसपास कहानीकारों की जो नई पीढ़ी उभर कर सामने आई है वह अपनी शुरुआत का नाता निमल वर्मा की 'एक शुरुआत' स जोड़ना पसन्द करती है। राजेन्द्र यादव कमलेश्वर द्वारा विज्ञापित नई कहानी क विरुद्ध इस पीढ़ी के मन में कितना अधिक विद्रोह है, यह इसी से स्पष्ट है कि इन्होंने कहानी मात्र को अस्वीकार करके हिन्दी म अ-कहानी की आवाज उठा दी !

—बहुत कुछ से सहमत हूँ। पर सही जवाब उसी पीढ़ी से लेना चाहिए।

■ सही जवाब तो वस्तुतः आपसे मिलना चाहिए, जो कि पहले की पीढ़ी के हैं। और केवल हैं ही नहीं बल्कि उस पीढ़ी के प्रतिनिधियों यानी विशिष्ट व्यक्तियों में से भी हैं।

—मेरी कठिनाई—जनेन्द्र ने इस बार फिर सीधे धागे में गाँठें बाँधना चाही—भई यह है कि व्यक्तित्व को मैं पीढ़ी में देख ही नहीं पाता, केवल व्यक्ति मैं देख सकता हूँ। इसलिए कहना पड़ता है कि पीढ़ी के बारे में सही जानकारी अगर चाहिए तो उस पीढ़ी से ही लेनी चाहिए। मुझे डर अवश्य है कि आप पीढ़ी से लेने चलेंगे तो जवाब इतने विविध हो जायेंगे कि कौन सा उनमें पीढ़ी का है यही तय करना मुश्किल होगा। इसलिए मेरी सलाह तो आप को भी यह है कि पीढ़ी के चक्कर से बचिये और व्यक्तियों की रचनाओं को व्यक्तिश लीजिये।

■ अभी आपने जानकारी शब्द का प्रयोग किया है किन्तु यदि मूल प्रश्न को देखें तो उसमें आपसे जानकारी नहीं 'विचार माँगे गये थे।'

—विचार पहले ही इस बात पर अटकता है कि पीढ़ी का कोई वस्तुगत अस्तित्व भी है? असल में वह सत्ता धारणात्मक है। धारणा के बाहर वस्तुत्व के अर्थ में उसका अस्तित्व ही नहीं है। इसलिए उसके बारे में विचार बनाने भी लगूँ तो किस आधार पर? संक्षेप में पीढ़ी के बारे में मेरे पास कोई मान्य-विचार नहीं। बहुत सुनता हूँ (साहित्य नहीं चरित्र के क्षेत्र में) कि पीढ़ी बिगड़ रही है। मुझे वैसा कुछ भी नहीं दीखता और ऐसे कथन उन लोगों के मुँह में ही शोभा या सार्थकता पा सकते हैं जो समझना नहीं सिर्फ बताते रहना चाहते हैं। विचार का सम्बन्ध समझने से अधिक है बतलाने से कम और इसलिए देखता हूँ कि समझने की चेष्टा में पीढ़ी जैसे समुदाय वाचक शब्द अपनी इयत्ता की रेखाएँ तो बैठते हैं और अवास्तव हो जाते हैं। विचार को उन पर रखने की फिर आवश्यकता शेष नहीं रहती।

■ क्या इस्केप-सम्बन्धी अपने प्रश्न को मन में ला सकता हूँ?

—आप स्वतन्त्र हैं पर 'इस्केप' से मुझे भय हो ऐसी बात नहीं। मगर मना विचार

सींग बढाये सामने आ जाए तो क्या आप समझते हैं मैं बचने और भागने मे देर लगाऊँगा ? जी नहीं इतना नासमझ मैं नही हूँ । इसलिए पलायन की आवश्यकता को म मान लेता हूँ ।

● ● ●

■ नई कहानिया आन्दोलन को आप किस सदर्भ म लेते हैं ?

—मुझे उसमें साहित्यिक सदर्भ तो मिल नहीं पाता । अर्थात् उस स्तर पर मुझे उस आन्दोलन को फालतू मानना होता है । सदर्भ कुछ यदि मिल पाता है तो आदिम प्रेरणाओ मे । उनको जीवनपरक या एक्जिस्टेंशल प्रेरणाएँ कहिये । वे प्रेरणाएँ जीवन का कम आवश्यक भाग नही हैं । लेकिन उनमे विग्रह फलित होता है और वह अपनी बातचीत के क्षेत्र से बाहर की बात होनी चाहिए ।

■ नये परिवर्तन तो उस साहित्य म निरन्तर आते ही रहते हैं फिर उन्हें स्वीकार करने म झिझक क्या है ?

—परिवर्तनो को अस्वीकार करने की भूल कौन करेगा ? पर, पानी वह नहीं है क्षण-क्षण बदल रहा है, तो क्या गगा भी मिट रही है ? साहित्य को रूपाकार म ही बँधा देखेंगे तो उसकी अमरता नष्ट हो जाएगी ।

■ व्यक्ति पल पल बदलता है जो अभी था अभी नहीं है । कला मे भी परिवर्तन अवश्यभावी है । उसी तरह यदि साहित्य की विधा भी बदले तो इसम अस्वीकार क्या ? प्रेमचन्द खत्रीजी की तिलिस्मी कहानियो से उभर कर एक नये यथार्थवादी धरातल पर आये, वैसे ही उससे अगले परिवर्तन जैनेन्द्र अज्ञेय आदि द्वारा हुए । उसी तरह अब जो नये परिवर्तन होंगे जो अवश्यभावी हैं, उनको अस्वीकार करना क्या यथार्थ का अस्वीकार करना नही है ?

—जैनेन्द्र को मैं जानता हूँ । उसने कोई परिवर्तन नहीं किया । उसने बस वह कहानी लिखी जो लिख सकता था । यानी अपनी कहानी लिखी । परिवर्तन करने के लिए नहीं अपने को साधने के लिए । गृहस्थी की कहानियाँ प्रेमचन्द से आगे भी लिखी गई और लिखी जायेंगी । वे पढ़ी भी जायेंगी । कहानी लिखने वाले के साथ है, समय के साथ उतनी नहीं है । समय से लगी भाषा हो

सकती है शैली हो सकती है या इस तरह की और ऊपरी बात हो सकती हैं। उनका लेकर आन्दोलन और विज्ञापन होते रहे हैं खडे भी किये जा सकते हैं। पर साहित्य की आत्मा से उनका कोई वास्ता नहीं होता। परिवर्तन खूब हों, फैशन चाहे पल पल बदले तो कुछ भी बुरी बात नहीं है। पर जिनके लिए वे वस्त्र होते हैं न वह मनुष्य का शरीर ऐसे जल्दी बदलता है न स्वभाव फिर आत्मा की बात तो कहिये क्या!

※ ऐसा न भी कहें लेकिन यह तो मानना ही होगा कि वह सब परिवर्तनशील है। जहाँ तक प्रश्न है विज्ञापन का या विघापन की मनोवृत्ति का वह बुरा कहा जा सकता है लेकिन केवल उसी वृत्ति के लिए सम्पूर्ण साहित्यिक धारा परिवर्तन को नकारा जाय, और दो पुरानी लकीरों पर चला जाय, तो क्या यह विचार है? आपने अभी कहा जो साहित्य कहानी लिखने वाले के साथ है समय के साथ नहीं है क्या समय, लिखने वाला कहानी ये सब रिलेटेड नहीं हैं? एक थोड़ी सी कमजोरी के लिए सम्पूर्ण अस्तित्व को अस्वीकार करना प्रगतिशीलता नहीं मानी जा सकती।

—नये-पुराने शब्दों को बीच में डालकर मानो सारा के सातत्य को हम भंगना और सच्चा नहीं चाहते हैं। इस प्रकार सनातन और सत्य से अपने को वंचित करना किसी के हित में नहीं हो सकता। पुराने के विरोध में किसी नये को खड़ा करके दलन की पद्धति सदा आत्मसमर्थनात्मक होता है और हीन भाव में से आता है।

लिखने वाला मर जाता है उसका लिखा फिर भी जिन्दा रहता है तो क्या? क्योंकि इसी कारण कि परिवर्तनीय में जितना उस लिखने और जीने वाले में अपरिवर्तनीय का त्याग रहा उतना ही चिरंतन अमर बनकर यहाँ शेष रह गया परिवर्तनीय तो उसके कलेवर के साथ मर खप गया। सचमुच क्या आप उस कलेवर को पकड़कर ही साहित्य के मूल्यों को पहचान करना चाहते हैं?

※ साहित्य के मूल्यों की परख यथार्थ से होती है। यह कैसे स्वीकार किया जा सकता है कि नया साहित्य सनातन और सत्य से वंचित है? जितनी गहराई और निकटता से जीवन एवं जगत की समस्याओं को देखने का प्रयत्न अब किया

जा रहा है उतना शायद पहले कभी भी हिन्दी साहित्य में नही किया गया । नये पुराने के भेद को बँधते रहेंगे, लेकिन साहित्य आगे नही बढ़ता और सब कुछ यह प्रचारात्मक ही है यह कैसे हो सकता है ?

यथार्थ क्या है मैं अब तक जान नही पाया ।

* प्रयत्न सच्चा होगा वहाँ दावा नहीं होगा । दावा है, इसी से संशय होना चाहिए कि क्या प्रयत्न भी है ? और क्या वह सच्चा है ?

नये पुराने के भेद पड़ेंगे, डाले जायेंगे, उठेंगे उठाये जायेंगे । पर जो उसमें रमेगा और भूलेगा, वह खोयगा ही, पायेगा कुछ नही ।

आज मेरी उम्र अट्ठावन है कभी अट्ठाइस भी रही होगी। आलोचकों की और आपकी बात मानूं तो शायद मुझमें कुछ वैसा प्रयत्न रहा हो, पर उस जमाने में भी, किसी नयेपन के दावे की बात मुझे सूझी तक हो ऐसा याद नहीं पड़ता । क्या बिना हो-हल्ले के निर्माण हो नहीं सकता ?

* शोरगुल की प्रवृत्ति स्वस्थ न हो, लेकिन इससे वास्तविकता में क्या अन्तर पड़ता है ? गंगा बहती है और प्रतिपल बहती रहती है यदि हम उसे न देखें या न स्वीकार करें या उससे तटस्थ बने रहें तो वस्तुत कोई विशेष अन्तर नहीं आता है । शोरगुल की प्रवृत्ति शायद समय की देन हो, क्योंकि यह हिन्दी तक ही सीमित न रहकर विश्व के सभी साहित्य में विद्यमान है । अल्बेयर कामू सार्त्र हैमिंग्वे विलियम फाकनेर यदि मूक ही होते तो विश्व के साहित्यकारों की श्रेणी में नही पहुँचते और दुनिया की सब भाषाओं में उनका रूपान्तर नही होता और करोड़ों पाठक उन्हें नहीं पढ़ते ।

—मुझे नही मालूम कि आपके गिनाये नाम के लोगों ने दूसरों को कितना जोश और मूल्य बताने की कोशिश की थी । यदि वे मान्य हुए और रहेंगे तो निश्चय ही इस कारण कि उन्होंने अपने प्रति ईमानदारी अवश्य अपनाई होगी, लेकिन पूर्वजों के प्रति उद्दण्डता नहीं ।

अन्तर जो उस तरह बातों से पड़ता है वह यह है कि समझा जाने लगता है कि बाप बेटे की प्रौढ़ किशोर की उन्नति नहीं चाहता है । याद कीजिये कि माता-पिता किस कृतार्थ भाव से पुत्र को प्राप्त करते और उसका पोषण करते हैं । लेकिन

राजनीति मे प्रधारता की परम्परा रही है कि युवराज राजा का खत्म करके पहले गद्दी छीन लेना चाहता है। गद्दी के कारण बात समझ मे आती है और आज के कानून ने सचमुच साहित्य को सम्पत्ति बना दिया है। इसलिए उस मे भी क्षेत्र इस तरह की बन्त बदी आये तो कोई विस्मय की बात नही है। लेकिन साहित्य चिन्तना उस अनिवार्यता स डिगे तो सचमुच शोचनीय बात होगी।

● नई कहानी के नाम पर हिन्दी मे जितना कुछ लिखा जा रहा है, क्या आपको सब वैसा ही भावशून्य और उथला नजर आता है ? और उसमें कही भी सार और टिकाऊपन नही नजर आता ?

—हाँ नई कहानी के सम्बन्ध मे और उस पर जो लिखा जा रहा है अधिकाश तो मुझे अर्थहीन और अनभीष्ट प्रतीत हुआ है। कहानियाँ सचमुच ऐसी अनेक सामने आई हैं जिन्हे पढ़कर चित्त को आनन्द प्राप्त हुआ है। नयेपन के शोर मे अक्सर देखता हूँ कि अन्छा अनपूछा रह जाता है और बनावटी उभार मे ल आया जाता है। इस चर्चा स सबस बडी हानि यह हो रही है कि लखन हार रहा है गुटबन्दी जीत रही है।

● लेकिन लोग तो यह दावा भरते हैं कि उन्होने सचमुच साहित्य की नौका दलदल से निकाल कर पार लगा दी है। यदि ऐसा न होता तो वे कैसे इतना बिकते छपते और थोडे ही समय म इतना यश अर्जित कर लते ?

—दावा व भरते हैं क्योकि उनमे इसकी स्पर्धा है इतना गुमान है। इस कामना के लिए उनके प्रति सराहना का भाव हो सकता है। आखिर इतनी हिम्मत हर किसी म कहाँ हो पाती है ? और हाथा हाथ इसका इनाम भी मिलता है कि नाम की चर्चा होती है और किताबों की बिक्री होती है। लेकिन इस सबक बावजूद उनके प्रति सबसे बढ़कर मुझमें सहानुभूति का उदय होता है। क्योकि यह निश्चित है कि अहकार अथवा आग्रह मे स नहीं बल्कि उसके अर्पण म से श्रेष्ठता की सृष्टि होगी। बाजार क ऊँच नाप पर ज्यादे न जाइये, काल निरवधि है और धरती भी विपुला है हम आप से सीमित नहीं है। और वहाँ अहम् नहीं टिकेगा, प्रेम ही टिक पायगा।

● ● ●

हिन्दी-कहानी : शील-निरूपण

■ अभी 'धर्मयुग' में आपका जो लेख आया है उसमें कुछ इस प्रकार की ध्वनि निकलती है, जैसे आपका लेखन विशेषतः उपन्यास और कहानी की विधा को अपनाना कुछ अपने आप हुआ है। लेकिन, मैं समझता हूं कि उपन्यास और कहानी को अपनी विधा के रूप में अपनाने के पीछे कोई वैचारिक पृष्ठभूमि जरूर रही होगी। यूं उपन्यास और कहानी विशेष रूप में आधुनिक पश्चिमी सभ्यता की विधाएँ हैं। अपने बारे में फैसला करते वक्त क्या पश्चिम की किसी खास विचारधारा के लेखक या किसी खास पीढ़ी के लेखक आपके सामने थे ?

—मैं निर्णय में से तो लेखक बना नहीं। यह घटनात्मक तथ्य है। मैं अपने सम्बन्ध में इतनी स्वस्थ अवस्था में ही न था। ऐसी हीन भावना में दबा था कि निर्णय वहां से नहीं बन सकता था। कहानी और उपन्यास लेखक बनने का निर्णय तो और भी वश का न था। मैं समझता हूँ कि हर आदमी के साथ

■ क्षमा करेंगे मेरे प्रश्न का सम्बन्ध बनने से नहीं करने से है। इसलिए मैंने किसी न किसी स्तर पर निर्णय की बात कही थी।

—मैं जो कहने जा रहा था, आपका प्रश्न उससे सम्बद्ध दीखेगा। हर आदमी दो चीजों के बीच से चलता है और वे दोनों सामान्यतया मेल नहीं खातीं। एक तो, जो सपना-सा लगता है, जिसके प्रति आकांक्षा होती है। दूसरे वह जो अपने साथ यथार्थ और वास्तव होता है। इन दोनों के बीच काफी फासला है और प्रत्येक व्यक्ति चुनौती अनुभव करता है कि कैसे इन दोनों फासलों के बीच में रिक्तता न रहे बल्कि एक सम्बद्धता हो। तो इस प्रयत्न में, मैं मानता हूँ कि कहानी उपन्यास आदि की सृष्टि सहज और अनिवार्य हो जाएगी। पश्चिमी साहित्य पढ़ता मैं जरूर रहा हूँ, लेकिन किसी लेखक या प्रमुख रचना के कारण

मैं कहानी पर आया ऐसा मुझे याद नहीं आता। शुरू में जो कहानियाँ लिखी गई वे मेरे उस समय के जीवन से जुड़ी सी देखी जा सकती हैं। उनकी प्रेरणा अमुक लेखक या अमुक रचना में से नहीं आई होगी क्योंकि वह बिलकुल जुड़ी हुई थी मेरे तात्कालिक जीवन से। निमित्त कुछ बन गया हो वह बात जुदा है।

● जहाँ तक आपके कहानीकार के आपकी निजी जिन्दगी से जुड़े होने की बात है वे आशाएं और यथार्थ कौन से थे जिन्हें जोड़ने की चुनौती आपके सामने आई ?

—मेरे साथ घटना ही हुई कि मुझे नौकरी मिली। यह दूसरी बात है कि *मिलते ही वह नौकरी खत्म भी हो गई। तो मेरे मन में उथल पुथल हुई।* मैंने उसी आप-बीती पर कुछ लिखा और वहीं दे दिया। फिर दूसरी रचना की बात। आश्वासन मिला था कि वह छपेगी। पाँच महीनों तक नहीं छपा तो मैं दफ्तर पहुँचा। मालिक ने कहा कि वह अभी डाक से वापस आई है सम्पादक बाहर गए थे उन्होंने ठीक करके भेजी है। देखी तो वह बहुत शुद्ध हो गई थी। इतनी शुद्ध कि वह मेरी रचना ही नहीं रही। अब वह रचना मैं कैसे छपने दूं ? क्योंकि उसका सब इतना दुरुस्त था कि मैं तो वैसा न था। कहने लगे कि नहीं रचना हमारी हो गई है अगर आप न चाहें तो इस बात पर कि कल तीसरे पहर तक उनको दूसरी कहानी दे जाएंगे। खैर मैं वादा कर आया। मैं जहाँ रहता था वहीं सामने उजाड़ ऊबड़ खाबड़ जगह पड़ी थी वहीं चटाई डाल मैं सोया करता था। कल कहानी देने की फिक्र और मैं ऊपर तारे देख रहा था। लगा कि एक एक तारा बहुत बड़ा है और बहुत दूर और मैं कुछ नहीं हूँ और मैं तारा नहीं हो सकता। इसी लड़ी में एक सूत्र मन में आकर टकराया कि यदि मैं अपनी चाह को तारे में बिठा दूं तो कुछ हाथ नहीं आयेगा। अर्थात् आग्रही आदमी यानी क्या है। महत्त्वाकांक्षा से अगर चलें और बाहर में कहीं एक आदर्श को प्रतिष्ठित करलें तो अन्त व्यथा में होगा पूर्णता हाथ नहीं लग सकती। बस ऐसा एक सूत्र सा था उस समय मन में कल्पनात्मक कुछ नहीं था। इस

सूत्र को मूर्त करने के लिए अनायास दो चरित्र अवतार पा उठे। बस, उन दो प्रतीक पात्रों को बन ग्रनबन से 'स्पर्द्धा' कहानी बनती चली गई। तो अधिकांश रचनाएँ अमूर्त सिद्धान्त को अपने निकट मूर्त करने की प्रेरणा से बनी हैं। मेरी अधिकांश रचनाएँ सोचता हूँ कि साठ प्रतिशत ऐसी ही होंगी।

※ तो क्या मोटे तौर पर आप इस विचारधारा से सहमत हैं कि साहित्य का मुख्य उद्देश्य किसी सिद्धान्त का निरूपण करना होता है?

—नहीं, मैं सोचता हूँ कि निरूपण करने के मानी होंगे कि सिद्धान्त प्राप्त है और आप में बन्द है। लेकिन हाँ, सिद्धान्त यदि आपकी अभीप्सा और खोज का विषय हो तो आप उसका प्रयोग और परख में ला सकते हैं अपने निकट मूर्त करने के लिए। अपने तई उसको घटनात्मक स्तर पर उतार कर देखना चाहते हैं कि सिद्धान्त सही ढलता है या नहीं। इसमें निरूपण नहीं होगा। साहित्य सिद्धान्त को परखने का ढंग अवश्य हो सकता है।

※ क्या इससे यह नतीजा निकाला जा सकता है कि यह प्रक्रिया दुनिया के हर व्यक्ति के लिए अलग-अलग होगी?

—निकालना चाहें तो निकालें, लेकिन मैं सोचता हूँ कि अगर मेरे लिए प्रक्रिया यह संगत है, तो दूसरे के लिए भी संगत होनी चाहिए। मानव प्राणी के रूप में क्या मैं कोई औरों से अलग हूँ?

※ जब हम यह मान लेते हैं कि साहित्य के संदर्भ में कोई प्राप्त सिद्धान्त नहीं है जिनका निरूपित करना है बल्कि घटना से सिद्धान्त की तरफ जाने और फिर उस सिद्धान्त को परखने की प्रक्रिया को अपनाने हैं तो निश्चय ही यह प्रक्रिया हर व्यक्ति के लिए अलग हो जाती है। हर व्यक्ति को यह रास्ता अपने आप तय करना होगा?

—मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं है। वैसे मैं व्यक्ति के रूप में यह नहीं मान पाता कि दूसरों से सर्वथा अनमिल हूँ और जो यान्त्रिक मन प्रक्रिया मुझमें चलती है वह दूसरों में नहीं होगी।

※ मेरे सवाल का मतलब है कि मेरे किसी आधार का लक्ष्य यानी जो मैंने प्राप्त किया है उसको आधार बनाकर दूसरा आदमी रास्ता नहीं बना सकता?

—मेरा स्वप्न केवल मेरा ही है दूसरे का नहीं। इसी तरह माग भी किन्हीं दो का एक नहीं हो सकता। कारण हर दो में स्थिति भेद है। लेकिन प्रत्येक व्यक्ति अपने आकांक्ष्य और अपने ही यथार्थ के अन्तर की चुनौती से बच कैसे सकता है मैं जानता नहीं। इसलिए मैं तो यही कहता हूँ कि प्रत्येक व्यक्ति अपने घटित और आकांक्षित—इन दोनों तटों को छूता हुआ चलता है।

उसकी परिभाषा दूँ कि जहाँ से चुनौती है ? नहीं वह न होगा। परिभाषा दी जा सके तो चुनौती खत्म हो जाती है। चुनौती ज्ञात में से नहीं आती, हमेशा अज्ञात अनय में से आती है। जो घटित है वह यथार्थ का चित्र है। जहाँ से चुनौती आती है आती रहेगी कभी खत्म नहीं होगी वह उस भाषा में अयथार्थ है—नितान्त और नित्य अ-यथार्थ ! उस सर्वथा अवास्तव का नाम मेरे निकट भगवान है। सत् कुछ हो तो वही हो सकता है। उसे असत् तक कहना चाहो तो कहो। बहुतेरे कहते ही हैं। पर अंतिम और परम चुनौती का वह ऐसा स्रोत है कि कभी समाप्त होने वाला नहीं है। इसलिए मैं जो भी परिभाषा दूँ वह अन्त में ईश्वर में खोने के लिए होगी।

■ इससे अगली बात क्या यह कही जा सकती है कि आपकी राय में घटना का और आकांक्षाओं की चुनौती का भी कोई सामूहिक रूप नहीं होता ?

—बात कहीं भारी तो नहीं हो रही ? मैं समझता हूँ क्षण समय का अंग है। क्षण न हो तो समय समाप्त हो जाता है। यद्यपि क्षण स्वयं को समय में समाप्त करके सार्थक बनता है। यही बात व्यक्ति और समूह समाज या देश की सबद्धता के बारे में सही मानना चाहिए। अर्थात् व्यक्ति घटक है, इसी से समूह समाज है। व्यक्तित्व के भाग में सामाजिकता फलित नहीं हो सकता। इस तरह अंग और समग्र दोनों जहाँ परस्पर में सुरक्षित रहते और परस्पर को सुरक्षित रखते हैं वही सफल साहित्य है। समाज प्रधान बनता है और व्यक्ति अस्वीकृत होता है अगर ऐसा कोई साहित्य है तो वह सफल नहीं है। और व्यक्ति का अहम् इतना प्रतिष्ठित हो जहाँ कि शेष अनादृत हो जाता हो तो वह भी साहित्य अध्ययनीय नहीं है।

■ आपने अभी जो कहा, यह क्या किसी हद तक चुनौती की परिभाषा नहीं है ?

—अगर है, तो होगी।

■ दोनों बातों को अगर मान लेते हैं, तो पहली बात अधूरी हो जाती है।

—अधूरी तो होगी ही। और जब तक तीसरी बात निकलने वाली हो तो दूसरी बात अधूरी हो जायगी।

■ एक छोटा-सा निजी प्रश्न पूछना चाहता हूँ। कई लोगों ने कहा है कि आप का लेखन हिन्दी के कथा साहित्य में एक नई दिशा में किया गया प्रयास था। क्या आपने खुद भी यह अनुभव किया कि जो दिशा उस समय थी, हिन्दी के कथा साहित्य में उससे आप कुछ भिन्न दिशा में जा रहे हैं ?

—नहीं, बिल्कुल अनुभव नहीं किया।

■ अभी पश्चिम में एक प्रवृत्ति ऐसी है जहाँ यह मान लिया गया है कि जिसे अभी आपने चुनौती कहा है उस चुनौती का कोई उत्तर दिया नहीं जा सकता। इसलिए भविष्य की कोई कल्पना नहीं कर सकता।

—फिर भी कल्पना भविष्य की ओर चलने को बाध्य है। निरर्थक मान लो, लेकिन कल्पना बेचारी जाय और किधर ? वर्तमान के प्रति हमारा सम्बन्ध बुद्धि का है। उधर कल्पना जाय तो कैसे ? क्या अपनी पीठ की तरफ जाया जा सकता है ? अर्थात् चुनौती का उत्तर चाहे न बने पर प्रेरणा वही से बनती है। समय का प्राप्त पहलू क्षण ही है अर्थात् क्षण के साथ वही न्याय कर सकता है जो समय के प्रति जीता है। क्षण में जीना समय की धारा से विच्छिन्न होना है। जो समय की सनातनता के साथ तत्सम होता है वही क्षण के साथ न्याय कर पाता है।

समय से तत्सम होने की तरकीब समय के प्रति निश्शंक होकर चलना है। अर्थात समय के प्रति उद्यत और निरपेक्ष। आज युग धर्म क्या है, यह प्रश्न पैदा करके हम समय में युग का विच्छिन्न करते हैं। इसलिए आदमी अपनी चेतना से अधिक तत्सम होकर चले तो उसमें ही समय के साथ की अभिन्नता आ जायेगी।

※ लेकिन आपकी यह बात तो आपको उस चुनौती के आधार को ही नष्ट कर देगी।

—मेरा कुछ पहले कहा हुआ उससे नष्ट हो जाता है तो उसकी आप चिंता मत कीजिये। यह मुझ पर छोड़िये। मैं आगे चल रहा हूँ तो अनिवार्य अपनी भूमिका का अन्त करते हुए भी चलता हूँ। इसलिए मुझे भय नहीं है यदि मेरी एक बात दूसरी बात को काटती लगती हो।

※ जो निरपेक्ष रहता है उसी के प्रति तत्सम होने की शिकायत नहीं होती?

—इसीलिए मैं कहता हूँ कि युग बोध को आत्म बोध से अलग समझने की आवश्यकता ही नहीं।

※ कठिनाई दुनिया की तरफ से नहीं है अपने अन्दर से है। स्वस्थ हों तो दुनिया प्रसन्नता देती दिखाई देती है और खुद अगर रुग्ण हों तो दुनिया में कहीं प्रसन्नता नहीं देख सकते।

※ यह कहना ठीक है पर आपके अनुसार आत्मबोध और युगबोध दो इकाइयाँ नहीं हैं?

—यदि जनेन्द्र अपने लिए कोई घेरा बना लेता है तो वह नष्ट ही होगा। ध्यान रखना होगा कि बोध बुद्धि से अलग नहीं होता। चाहे फिर उस बोध को किसी सत्ता के साथ जोड़ो — देश, युग, काल या कुछ—इससे यह धारणा में लेने वाली बुद्धि के अनुसार होगा, इसीलिए समग्र के सन्दर्भ को सदा साथ रखने की बात मैं कहता हूँ।

※ आपकी बात से दो नतीजे निकलते हैं, एक नतीजा तो यह निकलता है कि आज का बुद्धिजीवी विशेषकर पश्चिम का निरंतरता को या आत्मबोध और युग-बोध के सामंजस्य का उपलब्ध नहीं कर पा रहा। दूसरे निष्कर्ष उसका यह है कि वह उस जगह पर पहुँच नहीं पा रहा है जहाँ उसको यह मालूम हो कि वह समय के साथ तत्सम हो गया है इसलिए वह आगे बढ़ सकता है।

—मैं समझता हूँ कि मूलगत अस्तित्व बोध दुःख के बोध के सिवा दूसरा कुछ हो नहीं सकता। आपकी बात को मानता हूँ कि इस 'मैं हूँ' की अनुभूति दुःख और पीड़ा के रूप में ही मिलती है। क्योंकि 'मैं हूँ' में ही यह है कि 'मैं सब नहीं हूँ'।

इसलिए आज के साहित्य मे जो एक अकेलेपन का अहसास है, व्यथा की अनुभूति है, वह अनिवार्य है। और अशुभ नही है। आदमी आज नाम और शब्द वाले परमेश्वर को भूलकर बल्कि तोडकर, जो सचाई को खोजना चाहता है, सो भी अनुचित नही है। मेरा अपना खयाल है कि समय के साथ तत्सम रह, इसकी भी अलग से चिन्ता करने की जरूरत नही हैं। वेचनी शुभ लक्षण है, इससे बुद्धि की कुरेद चेतना की गहरी पर्तों का उदघाटन करती और समय के साथ तत्समता लाने मे सहायक होती है। अंतिम विश्लेषण मे सदबोध दुख बोध मे से ही मिलेगा।

☆ बातचीत के दौरान आपने तीन स्तरो पर चेतना की बात कही है। एक वस्तु बोध की एक युग-बोध की और एक आत्म बोध की। आत्म बोध और युग बोध की चेतना परस्पर सम्बद्ध है। इस वैचारिक संदर्भ में नवलेखन के सम्बन्ध मे जो स्थापनाएँ हैं, नवलेखन के प्रवक्ताओ की उनके बारे मे और विशेष रूप से नई कहानी के बारे मे आपकी राय क्या है?

—शब्दों की बारीकियों मे कही हम भटक न जाए। दुख बोध से हमारा आरम्भ है। उसका बाहर की ओर प्रक्षेपण होता है तो वह आत्म बोध के रूप मे परिणत होता है। अर्थात उसका फलित होता है—सह अनुभूति। जब हम दुख के अथवा अहं के बोध को सहानुभूति मे परिणत नही करते, आग्रह पर रुक जाते है तो उसको अच्छे-अच्छे नामो का बाना पहनाना आवश्यक हो जाता है। तब उसको युग पर दश पर या इस प्रकार के अन्य अतिरिक्त लटकों पर लटका देते है। नवलेखन ऐसी संज्ञा है जिसमे जितना नया लिखा जा रहा है और जितने नये लिखने वाले हैं सब मे सब समा जाते हैं। लेकिन उन लेखकों के लेखन मे अपनी अपनी निजता एव विविधता है। इसलिए 'नवलेखन' के बारे मे कोई निर्णय दे सकना मेरे लिए सम्भव नही है। क्योंकि यह सज्ञा समुच्चय बोधक है और अपने आप मे कुछ आविष्टेरी है। कुल मिलाकर मुझे लगता है कि परस्पर की संवेदनात्मक सम्बद्धता पर उतना आग्रह नहीं है जितना होना चाहिए और निजत्व की प्रतीति पर कुछ ज्यादा निर्भरता है।

■ मैं एक मिसाल देना चाहता हूं, जैसे राजकुमार। राजकुमार की जितनी कहानियाँ पिछले दिनो आई हैं मुझे लगता है कि उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनके जितने भी पात्र हैं वे सब किसी स्तर पर आकर यह महसूस करते हैं कि उनके अन्दर संवेदना की शक्ति नष्ट हो गई है। लेकिन कहानियाँ इसका संकेत नहीं करतीं कि लेखक की संवेदना-शक्ति भी नष्ट हो गई है, तो यह नतीजा निकाला जा सकता है कि लेखक के सामने जो वस्तु स्थिति है जो जीवन की घटना है उसमें संवेदना नष्ट हो गई है, या बहुत कम हो गई है। और उसके परिणामस्वरूप लेखक की संवेदना ने यह रूप ले लिया है।

—जैसा कि मैंने कहा है निजत्व का बोध पीड़ात्मक होता है। अब पीड़ा की तीव्रता प्रेरित करती है कि उसका निवारण हो। इस चेष्टा में समूह-सत्ता और परस्परता की सृष्टि होती है। राजकुमारजी की मिसाल मेरे लिए बहुत मददगार नहीं हो पाती। उनकी रचनाएँ कुछ पढ़ी तो हैं लेकिन अलग से उनकी याद मैं नहीं कर पाता। पर यह मैं समझता हूं कि कहानी के पात्रों में उसके चित्रण में निजत्व हो स्वयं कथाकार में उसका मोह न हो। बल्कि पात्रों चरित्रों के निजगत ग्रन्थि का चित्रण सफलतापूर्वक हो पाता है तो यह तभी हो सकता कि जब लेखक स्वयं निज के अहंवाद का शिकार न हो। लेकिन आज निजत्व के चित्रण से अधिक उसकी लिप्सा अर्थात् स्वरति जैसी जो चीज मिलती है, उससे मैं संताप नहीं पा सकता। आजकल समाजवाद का समूहवाद का जो जोर है उसकी *प्रतिक्रिया में निजत्व और व्यक्तित्व पर बल आ पड़ा है।* किन्तु राजनीति की एकांगिता का उत्तर साहित्य की एकांगिता से नहीं दिया जा सकता। मुझे लगता है कि नवलेखन में जैसे वह उत्तर उलटी एकांगिता से देने का प्रयास भी कुछ कुछ है।

■ अगर मैं यह कि नवजागरण की समस्या हिन्दुस्तान में इस वक्त यह है कि आप जिस आत्मबोध की प्रक्रिया कहते हैं उसका कोई रास्ता उसको नजर नहीं आता तथा जो सिद्धान्त हमारे बुजुर्गों के लिए पर्याप्त रहे हैं वे उसको पर्याप्त नहीं लगते, और इस कारण जिसके पास पर्याप्त सिद्धान्त हैं उसको ऐसा लगता है कि उसमें संवेदना नहीं है तो क्या यह गलत होगा?

—आप सही कहते हैं। संवेदन को ही धर्म मान लेंगे, तो जीवन-पराक्रम का आधार खत्म हो जायेगा, सिर्फ वेदना रह जायेगा। भावुक विशेष कुछ कर नहीं पाता। संवेदन में इसलिए जो बिल्कुल गीला है, बेहद आर्द्र है, तो समझना चाहिए कि भीतर का अस्थि-संस्थान उसमें क्षीण है। अस्थितन्त्र मजबूत न हो तो शरीर का रूप लावण्य भी नहीं रह सकता। भाव का भीगापन अधिक है, तो अवश्य घबराना चाहिए। लेकिन निज बोध अपने आप में कष्टकर ही है। निज का पर से सम्बन्ध जब तक नहीं होता, तब तक स्वत्वबोध में भी रस-सामर्थ्य नहीं आता। सो स्वत्वबोध को मैं बहुत उपयोगी मानता हूँ, बशर्ते कि उसकी पीड़ा में रमकर रह न जाया जाय, बल्कि उससे मुक्ति पाने में उठा जाये। पीड़ा को यदि झेलते नहीं, उससे जूझते नहीं है, तो एक रोमांटिक साहित्य पैदा होता है। वह स्व (रति) मूलक होता है। पीड़ा को मानना है, पर रमणीय नहीं मानना है।

■ इस बारे में मैं निजी तौर पर आपसे पूरी तरह सहमत हूँ कि पीड़ा में रस लेना शुभ नहीं है। लेकिन दो दिक्कतें आती हैं, एक दिक्कत यह आती है कि जिसे समूहवाद या समाजवाद कह सकते हैं, केवल वही नहीं, बल्कि जो व्यक्ति-वादी या उदारवादी सिद्धान्त कहे जाते हैं, वे भी आज निष्फल लग रहे हैं। समस्या नये लेखक के सामने समूहवाद के प्रतिकार की नहीं है, कुछ लोगों के लिए यह बात हो सकती है, लेकिन सम्पूर्ण जो प्रक्रिया है, उसके लिए सत्य नहीं है। सार्त्र के लिए भी सच नहीं थी। हाल ही में जैसा उन्होंने कहा है कि १९वीं सदी का प्रतिनिधि उपन्यास 'युद्ध और शान्ति' है और यदि बीसवीं सदी का कोई प्रतिनिधि उपन्यास होगा, तो वह समाजवाद-विषयक होगा। और सार्त्र की निजी जिन्दगी भी गवाह है कि उन्होंने अपने आपको सामूहिक जीवन से काटने की कोशिश नहीं की। एक यहाँ पेच गया है, जहाँ तक मैं समझता हूँ, कि कुछ मूल आस्थाएँ मौजूद हैं, जैसे कि बीसवीं सदी के सन्दर्भ में जातिभेद की समाप्ति, उपनिवेशवाद की समाप्ति, या स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों में समानता, व्यक्ति की स्वतन्त्रता, राज्य द्वारा निजी जीवन में हस्तक्षेप की समाप्ति, इस तरह की कुछ मूल आस्थाएँ मौजूद हैं। लेकिन

चाहे वह व्यक्तिवाद हो चाहे समाजवाद हो, चाहे समूहवाद हो, जो भी राजनीतिक दर्शन या सिद्धान्त उसके सामने आते हैं वे सब उसको अप्रासंगिक लगते हैं। इसलिए वह इन सारे सिद्धान्तों से तात्कालिक साहित्य में किसी हद तक निहित होते हैं अपने आपको काट लेता है। राजनीतिक संगठन से काट लेता है, लेकिन उद्देश्यों से नहीं काटता। इसको हिन्दुस्तान में देखें तो भी बात वही आती है। लेकिन बने बनाये सिद्धान्त उसको अपर्याप्त लगते हैं। आपका क्या विचार है?

—आज सामूहिक आन्दोलनों में शरीक हो सकते हैं लेकिन अस्तित्ववाद निश्चय ही समाजवाद रहा है। बल्कि दोनों में सामान्य भूमि भी लगभग नहीं है। आज के लिए अथवा हर किसी के लिए जरूरी होता है कि वह समूह से समान में न टूटे साथ ही समय से भी जुड़ा रहे। इस तरह हर आदमी दो प्रतिरोधी प्रवृत्तियों के बीच जीने के लिए रह जाता है। बल्कि साहित्य में जैसे मुझे लगता है वह इतना नहीं आता जो व्यक्ति स्वयं है बल्कि अधिक यह आता है जो वह नहीं है सिर्फ होना चाहता है। आज के चरित्र अथवा वास्तविक जीवन में यदि झुकाव इस प्रकार सामूहिक आन्दोलनों के प्रति दीखता है तो शायद इस कारण और भी अनिवार्य है कि लेखक में उसका झुकाव उलटा रहा हो।

आपकी यह बात सही है कि आज इति निश्चिति का भाव टिक नहीं सकता है। सिद्धान्त कोई नहीं है। सिद्धान्त सब सहारे का काम देते हैं। सहारे के लिए उन्हें रखा जा सकता है। समय यह भी आ सकता है कि वे काम न दें, और तब उन्हें छोड़ना ही कर्तव्य हो जाता है। आप स्त्री पुरुष सम्बन्ध की परिवर्तित और नई धारणा की बात करते हैं उसे ही लीजिये। मुझे नहीं मालूम कि यह नई धारणा क्या है। स्त्री का अपना भी निजत्व है इसको क्या नई धारणा कहा जाएगा? मैं स्त्री-पुरुष के बीच के आकर्षण को पवित्र मानता हूं। इसको काम कहते हैं और काम मेरे लिए अनीश्वरीय शक्ति नहीं है। किन्तु मैं समझता हूँ कि काम की उत्कृष्टता एक विशेष प्रकार में निग्रह और संयम को जन्म दे सकती है। प्रेम में काम की पूर्णता है और ब्रह्मचर्य में प्रेम की पूर्णता है। अर्थात् ऐसे पौरुष की मैं कल्पना ही नहीं, बल्कि दर्शन भी कर सकता हूँ कि जो

रूढ़ अर्थ में कापुरुषता-जैसा लगे। अहिंसा मेरे लिए परम पराक्रम है, इसी तरह ब्रह्मचर्य परम पौरुष। मैं नहीं मानता हूँ कि यह दृष्टि पुरातन अथवा नूतन कही जाने के लिए है। किंचित दुर्लभ अवश्य है। मुझे लगता है कि नव में भी जो नव्य है, ऐसा लेखन अनिवार्यतः इस दर्शन की ओर बढ़ेगा। और तब केवल काम या संयम को श्लाघा न मिलेगी न समर्थन। आज तो अवश्य ऐसा नहीं दीखता।

* कमलेश्वरजी की एक कहानी है—'एक अश्लील कहानी।' उसमें निरूपण है इस समय की स्थिति का, कि ब्रह्मचर्य भी नहीं है और काम भी नहीं है, बल्कि एक तरफ दुराव छिपाव है दूसरी तरफ मन में बढ़ती हुई कुण्ठाएँ। या मोहन राकेश की कुछ कहानियाँ जो मातृत्व की लालसा और आधुनिक जीवन की कठिनाइयों के टकराव को व्यक्त करती हैं। या एक और व्यापक समस्या अक्सर आती है। खास तौर से मध्यम वर्ग के लड़के-लड़की, सचमुच किसी अर्थ में जवान नहीं होते। या तो बच्चे रहते हैं या माँ बाप बन जाते हैं। इन सब चीज़ों को लेकर जैसा आपने भी कहा है एक व्यापक स्थिति है, जिसकी प्रतिक्रिया नवलेखन में मिलती है। विशिष्ट रूप से, क्या आप इस स्थिति पर कोई राय देना चाहेंगे? इधर किन्हीं लेखकों में क्या आपको ऐसा लगता है कि वे निषेध को पार कर पा रहे हैं?

—इधर की बहुत सी कहानियों में जीवन के घुटे और दबे पहलू भी प्रकाश में लाये जा रहे हैं। यह व्यक्तिगत और सामाजिक स्वास्थ्य के लिए हितकर होगा। पहले सचमुच ऐसे मुक्त भाव के मार्ग में कुछ मर्यादाएँ थीं जिनको पार करना मुश्किल हुआ करता था। आज की परिस्थिति कुछ ऐसा संकुलित है कि मर्यादाओं की सख्ती रह नहीं गई है और बुद्धि की विश्लेषण शक्ति खुल गई है। कुल मिलाकर यह अच्छा ही है। किन्तु बुद्धि अपनी सीमा से आगे काम नहीं कर सकती अर्थात् प्रकाश नहीं दे सकती। जिसके पास आस्था नहीं है दूसरे शब्दों में दिशा नहीं है उस बुद्धि द्वारा जो रचना होगी, उसमें व्यंग्य तीखा हो सकता है आलोचना पैनी कटाक्ष रोमांचक लेकिन उस रचना का दान, उसका प्रभाव, स्थायी शायद न हो पाये। सृजनात्मक रचना में सहज,

व्यंग, कटाक्ष उपयुक्त नहीं होगा, ऐसा नहीं; किन्तु मूल प्रेरणा आलोचनात्मक नहीं होगी। कारण बुद्धि नितान्त विश्लेषणात्मक है और उसको सिर्फ अपना छोर पूरा करने की छूट नहीं दी जा सकती। बल्कि उसके निर्माण में लक्ष्य रहना चाहिए। इन दोनों प्रकार की रचनाओं अर्थात् सृजनात्मक और मर्मोद्घाटक में एकाएक पहचान कर पाना आसान नहीं। लेकिन विवरण और विश्लेषण जहाँ स्वयं में प्रधान और चमत्कारी बन जाएं, वहाँ अधिकांश मेरे मन में संशय हो आता है। दिल तो हर आदमी के भीतर इतनी सुरक्षा में रखा गया है कि वह हाथ आ नहीं सकता। जो दीखता है, वह शरीरायमय है। इसलिए जहाँ हृदय के व्यापारों का अत्यन्त सुनिश्चित विवरण या विश्लेषण है, वहाँ मुझे मतवादिता की आशंका होने लगती है। सही दृष्टि घटनात्मक के प्रति उदासीन नहीं हो सकती। इसलिए कहानी बाह्य घटनात्मक या स्थूल रहे तो यह उचित ही है। जो आन्तरिक है, उसके प्रति तो पढ़ने वाले में उन्मुखता जगती जानी चाहिए। अर्थात् रचना में उसकी सूचना हो सकती है, प्रतिपादन या निर्देशन नहीं हो सकता। घटना में सत्य निभृत एवं गूढ़ होता है। किन्तु घटना ही सत्य की वाणी भी है। अर्थात् घटना दीखती है; सत्य को उसमें से ढूँढ़ना पड़ता है। कहानी में भी व्यक्त अव्यक्त का कुछ यही सम्बन्ध समीचीन होगा।

आपने कुछ नाम सामने किये हैं। नामों के बीच से मुझे राह ढूँढ़ना मुश्किल होता है। जैसे श्री राकेश के साथ श्री राजेन्द्र यादव को लिया गया हो, तो इन दोनों में मुझे बहुत कम सामान्य मिलता है। लगभग अलग ही नहीं, बल्कि परस्पर विरोधी-जैसा लक्षण भी लगता है। सुवक्ता जो राकेश में है राजेन्द्र में आकर जैसे उसकी परत पर परत खोल कर देखने के शिल्प में परिणत हो आती है। यह दूसरी पद्धति मुझे खींच नहीं पाती। क्योंकि मेरे लिए मेरी कल्पनात्मकता के लिए वह उतना अवकाश नहीं छोड़ती। कलात्मकता में घटनात्मक का अभाव नहीं है। किन्तु घटनात्मकता वहाँ केवल उपादान नहीं है, किंचित् स्वयं में साध्य तक है। मैं स्वयं घटना का सत्य के संकेत के रूप में ही महत्त्व दे पाता हूँ। शेष में तो वह वस्त्र है, जो व्यक्तित्व को अपने

में प्रगट भी कर सकता है ढँक भी सकता है। वस्त्र के विवरण की सार्थकता इसमें है कि उस पर ध्यान न जाय, ध्यान सीधा उसके द्वारा व्यक्तित्व पर जाये।

■ इस समय जो अपेक्षतया नई पीढ़ी है उसमें सर्वाधिक सन्तोषप्रद रचनाएँ आपको किन कहानीकारों की लगती हैं ?

—यह तो आप मुझे घसीटते हैं। मैं निर्णय नहीं देता हूँ। न सबको पूरा पढ़ा ही है। उल्लेख के लिए नामों की आपने ही कुछ सहायता कर दी है। मोहन राकेश के लेखन ने मुझे पकड़ा। छिटपुट रचनाएँ ही देखी थीं, फिर संग्रह मँगाकर पढ़ गया। इसमें पहले निर्मल वर्मा की ओर मैं नहीं आ पाया था। लेकिन नये संग्रह जो मैंने प्रयत्नपूर्वक प्राप्त किये और पढ़े, उनमें मुझे निर्मल में सूक्ष्मता विशेष मालूम हुई। सूक्ष्मता और तात्कालिकता की दृष्टि से मोहन राकेश अलग हैं और स्वस्थ हैं। इधर जो नाम आते हैं उनमें कमलेश्वर की रचना में सत्त्व है। वे इतनी महीन नहीं हैं कि हाथ से खो जाएँ। राजेन्द्र की कुछ रचनाएँ अच्छी लगीं पर कभी मुझे पढ़ते पढ़ते एक ऐसे ड्राइंग रूम की याद आ जाती है जिसमें बढ़िया बढ़िया सामान इतना था कि जगह ही शेष नहीं रह जाती थी जिसे रूम कहो। उस ड्राइंग रूम में पहुँच कर विस्मय तो हुआ पर जी कुछ घुट गया।

बाज-बाज कहानियाँ ऐसी नजर में आई हैं कि वहीं टिक गई हैं। उनके लेखकों के नाम सहसा याद में प्रस्तुत नहीं हो रहे। उषा प्रियम्वदा की कुछ कहानियाँ पढ़ने पर देर तक मुझ में घूमती रह गई थीं। लेकिन लिखने वालों का सबका अलग व्यक्तित्व है। और गिनाने में किसी का नाम उल्लेख से बचा रह सकता है पर व्यक्तित्व अपना स्थान रखते हैं। यशी का वितान लम्बा है लेकिन लक्ष्य की एकाग्रता उतनी नहीं लगी। शैलेश की व्यापक सहानुभूति है और चरित्र मांसल और विश्वसनीय होते हैं। राजकमल चौधरी की सूझ प्यारी और पनी है। सर्वेश्वर, रघुवीर के पास मन्तव्य है और वे सूक्ष्म हैं, किन्तु रचना इतनी वास्तविक और शारीरिक नहीं रह जाती।

भीष्म का लेखन स्वतन्त्र और पुष्ट है और अप्राप्य दुष्प्राप्य को पाने पकड़ने के पीछे नहीं है। कृष्णा सोबती की इधर एक कहानी 'मित्रो मरजानी' अत्यन्त सशक्त कहानियों में से है। मुझे उसकी निर्मम तटस्थता विस्मित कर गई है। दूसरे अनेक बन्धु हैं जो अपने ढंग से कीमती काम कर रहे हैं और नये आयामों की ओर बढ़ने के प्रयासी हैं।

हाँ, पीढ़ियों के सवाल ने इधर कुछ दिक्कत पैदा कर दी मालूम होती है। तीस से चालीस तक की पीढ़ी यदि अपने को नयी कहानी है तो बीस या बाईस से बत्तीस तक की पीढ़ी अपने को क्या कहना चाहेगी? इसलिए समय बोधक शब्द से कहानियों में अन्तर डालने या देखने की पद्धति साहित्य की दृष्टि से बहुत विश्वसनीय नहीं हो सकेगी। इस काम के लिए किसी गुणात्मक विशेषण को लिया जाए तो ज्यादा अच्छा हो।

जैनेन्द्र अगर सोच समझकर नई कहानी लिखना है, ऐसी या वैसी कहानी लिखता है, तो इस बात पर लिख सकता है कि उसकी वह कहानी जैनेन्द्रीय न रह जाय। अर्थात् हरेक यदि वह सृजनशील लेखक है अपनी ही कहानी लिख सकता है। किसी भी नाम-नमूने वाली कहानी वह नहीं लिख सकता।

● ● ●

कहानी, नई कहानी, अ-कहानी : कुछ प्रश्न

■ कहानी विधा मे परिवर्तित शिल्प और कथागत मूल्यो को उनकी परिवर्तित होती स्थिति को, आपने किस रूप मे ग्रहण किया ?

—शिल्प और विन्यास का मुझे कभी पता ही नही रहा। कभी न मैं उन पर अटका न रुका। कथ्य भी मेरे पास बाहर से आया यह मैं नही कह सकता। इसलिए बाहर होते हुए किसी परिवर्तन की चिन्ता ने मुझे विशेष नही सताया। परिवर्तन हठात् अन्दर भी होता ही रहता है। नहीं तो जीवन चेतन नहीं कहलायगा। उन परिणतियो को मैं और मेरा लेखन स्वीकार करता चला गया इतना ही मेरे लिए काफी है। कहानी के बनाव के बारे में जो मैं शुरू से निश्चिन्त रहा, सो उसका लाभ ही मुझे यह मिलता रहा कि एक कहानी दूसरी जसी नही बनी। सब अपने आप म स्वतन्त्र और भिन्न बनती चली गई। जानता हूं कि कहानी विन्यास के बारे मे बहुत चर्चा चलता है, लेकिन कहानी जिसे लिखनी हो वह उनसे अप्रभावित बना रहे तो इसी म मुझे खरियत मालूम होती है।

■ क्या अकहानी का परम्परा स हटकर कोई अपना स्वतन्त्र दर्शन हो सकता है ? या महज भाषा और कथ्य के नगण्य के कारण ही वह अपने को अलग साबित करना चाहती है ?

—वहाँ 'अकहानी' शब्द मे कहानी के इन्कार की जो ध्वनि है वह क्यो ? बस, उसी से वहाँ अहकार का आभास होता है। कहानी कोई सीमित विधा तो अब रह नहीं गई है। उसम सभी तरीके की रचनाओ का समावेश हो सकता

है। शर्त केवल यह है कि वहाँ शब्द अभिधा में नहीं, बल्कि व्यंजना से अपनी बात कहे। 'कहानी' संज्ञा में इतना कुछ अवकाश होते हुए फिर 'अकहानी' शब्द का निर्माण यदि करना पड़ता है तो मालूम होता है कि वह अनायास नहीं, एक सप्रयास प्रक्रिया है। इसलिए मुझे कहानी अकहानी की चर्चा कृत्रिम मालूम होती है।

■ अगर इस बात को आप मानते हैं तो यह बात काफी पहले तथाकथित नई कहानी ने भी क्या कुछ अंशों में न की थी ?

—वैसा ही कुछ मनोभाव 'नई कहानी' शब्द के निर्माण और विज्ञापन के पीछे मालूम होता है। उसमें कोई साहित्यिक सत्त्व नहीं है। किसी भी एक समय में लिखी जाती हुई कहानियों के वैविध्य में हम उतरें तो दीख पड़ेगा कि व तत्त्व बीज रूप में वहाँ भी विद्यमान थे जिन पर नई कहानी या अकहानी के निरूपक ज़ोर देते देखे जाते हैं। इसलिए मेरी सलाह होगी कि नित नये उठने वाले इन नारों से आप उद्विग्न न बनें, कहानी को जहाँ तक हो सके जीवन से तदगत माने रहें और साहित्यिक वादों और आग्रहों से अपने को मुक्त एवं निर्विवाद बने रहने दें।

■ नई वस्तु अपने नयेपन के कारण कुछ काल तक नई रहती है। क्या नई कहानी अब नई कहलाने योग्य रह गयी है ?

—हर पल नित नया कुछ खिलता ही रहता है। तड़के अँधेरे ही गया सवेरा फूट आया था। देखा पौधे में नयी कली उभर आयी है। दिन खिलते दोपहर तक वह फूल बन आयी। यह सब अनिवार्य और अनायास घटित होता है। कोई इसमें बाजे नहीं बजते न शोर होता है। इसलिए ज़ोर और शोर के साथ अगर कुछ नयापन लाया जाता या फिर जताकर उभारा जाता है तो निश्चय ही यह कुछ बना हुआ मामला है। इस ढंग का नया मार्का हुआ करता है जिसका ठप्पा चलाने के लिए अमुक माल पर लगाया जाता है। इसमें और जीवन की नित नवीन परिणतियों में कोई सम्बन्ध नहीं होता। बल्कि यह शोर विज्ञापनवाद नूतनता के नवाविष्कार में अवरोध और बाधा ही अधिक बना करता है। कारण, ज़िन्दगी लेबिल के तहत खिलने वाली चीज़ नहीं है।

बल्कि बमे ता वह और मुरझा जा सकती है। लेबिल के अधिक्तर समूहगत मत-स्वाथ पर चिपकने की आवश्यक्ता होती है। समूह माहित्यिक क्षेत्र म सदिग्ध वस्तु है। कहानी पर लेखक का नाम होता ही है बस, उसी व्यक्तिगत राय, रुचि या शक्ति के लिए साहित्य म अवकाश है। अधिक होने पर मानो राजनीति का क्षेत्र आ जाता है जहाँ स्वाथ प्रमुख प्रयोजन ओढ लेता है और दलगत बन जाता है। हर व्यक्ति को साहित्य के क्षेत्र मे हिम्मत होनी चाहिए कि वह अपने कलम के साथ अकेला खडा हो और गोल या भुण्ड बाँध कर जीने की आदिम आदत को चुनोती देता रहे। अनेक आधुनिक मतवादो के नाम पर यूथबद्ध होकर चलने के इन आदिम सस्कारो से मानव व्यक्तित्व को ऊँचे उठना चाहिए और साहित्य इसी की दीक्षा देता है। उसे अन्त करण के साथ और सत्य के साथ जीना आना चाहिए। उसे साहित्य के क्षेत्र में भी यदि घडबन्दी चल निकलेगी तो आशा फिर किससे की जा सकती है ?

■ कहानी गत प्रवृत्तियो के इन नामकरणो का आपके वक्त की या या कहिए आपके द्वारा लिखी जाने वाली कहानियो की सापेक्षता म क्या महत्त्व है ?

—मरी जानकारी में तो कोई महत्त्व नही है। कहानी हरेक की उसके व्यक्तित्व स अभिन्न होगी। बाहर पदा किये जाने वाले नाम और विशेषण उस अभिन्नता म अन्तराय ही डाल सकते हैं। इसलिए वे किसी के लिए इष्ट नहा हो सकन, यानी इष्ट साहित्य सजना मे किसी दूसर प्रकार का प्रयोजन अभीष्ट हो तो वह अलग बात है।

■ आप अपना या अपने समकालीन सीनियर कथा-लेखको का एग्ज़ीस्टेण्ट किन जूनियर लेखको म हुआ मानते हैं ? अर्थात जैनेन्द्र अज्ञेय किन लोगों म आज जी रहे हैं ?

—यह मैं कुछ नहा कह सकता। हर लेखक को स्वय होना पडता है फिर प्रभाव वह जहाँ से चाहे ले। बल्कि उस प्रकार के प्रभावो के बीच वह जनमता जीता ही है। ये पचाये गये प्रभाव फिर उसके निजी और सश्लिष्ट बन कर व्यक्त होते तो साहित्य रच जाता है। जहाँ दावा हो कि वह मौलिक है बढकर है,

ऐसा है, वसा है वही मान लेना चाहिए कि आत्म निर्मिति और आत्म स्वीकृति म कुछ त्रुटि रह गई है। छलकना अघभर होने के कारण हुआ करता है। दूसरे का इन्कार उसी अनदय प्रभाव को जतलाता है। कृतज्ञ स्वीकार स्वस्थ व्यक्तित्व का लक्षण होता है। जहा दूसरा का इन्कार देखें नये पन का मौलिकता का दावा सुनें वहाँ ही हम सहानुभूति देने को तयार रहना चाहिए। कारण वहाँ स्वास्थ्य का अभाव और किंचित हीनता का प्रभाव है।

■ क्या आप इस दृष्टि से प्रेमचन्द को मृत मानते हैं? अगर नहीं तो वे कौन लेखक हैं जिनम प्रमचन्द की परम्परा विकसित हुई है?

—सन १९३६ म प्रेमचन्द जी क्या सचमुच गत नही हो गय? लेकिन साहित्य उनका जीता है और जियगा। दूर क्या जाऊ स्वय मैं अपने को उनसे उऋण नही मानता हूँ। लेकिन हाँ मेरे प्रश्न उनका रूप दूसरा है कि जिनसे मुझे जूझना निपटना पडता है। मैं सुधारवादी वृत्ति इसलिए नहीं अपना सकता कि मै अपने को सुधरा हुआ नही पाता हू। यह मरी मनःस्थिति की बात है। लेकिन निश्चय ही नया म भी ऐसे लाग हैं जो सुधारक मनोभाव रखते हैं। कहने लिखने के तौर तरीके म फिर कितना भी विभद हो वे उसी परम्परा को निबाहने वाले माने जायेंगे। एक लक्ष्य बताने वाला है दूसरा खोजने वाला मानना होगा कि आज कइ नराक इतने जानकार हैं कि वे आसानी से पाठक के नजदीक बनाने सिखाने वाले बन रहत हैं। प्रेमचन्द क जमाने म लेखक एम० ए० वगैरा कम हुआ करते थे। अब उनसे कम तो नायक होते ही नहीं, आगे डाक्टर इत्यादि भी हो तो अलग बात है। इस अतिविज्ञता के कारण मुझे सन्देह है कि साहित्य उतना पुष्ट और स्थायी कदाचित कम आ रहा है।

■ नामकरणों तथा गोष्ठियों और इधर जो क्या समारोहों का सिलसिला शुरू हुआ क्या आप उसे कहानी के क्षेत्र म आये गतिरोध की प्रतिक्रिया मानते हैं या मात्र कुछ लोगो के प्रचार के निमित्त एक आयोजित सिलसिला है?

—गतिरोध मे से यह चर्चाओं और परिसम्वादों का अतिरेक निकला या उस अतिरेक से गतिरोध निकला कहना कठिन है। लेकिन दोनो म नाता अवश्य है। आप अपने साथ नाथ और सम्वाद म मुक्त हो सकते हैं तो लेखन निकलता है।

वाद और विवाद की उत्कंठा में यदि रहते हैं, तो भाषण और समीक्षण निकलता है। यह भी हो सकता है कि भाषण-समीक्षण को ही लेखन में उतार लिया जाय। लेकिन तब वह साहित्य नहीं होता। हाँ पत्रकारिता का नाम अवश्य दे जाता है।

■ आपने कलकत्ता में हुए समारोह में भाग लिया था—उस कलकत्ता-समारोह में, जिसमें मन्मथनाथ गुप्त, विष्णु प्रभाकर, मुद्राराक्षस, श्याम परमार, कुलभूषण, कमल जोशी, नरेश मेहता, रघुवीर सहाय, अमृतराय, देवेन्द्र इस्सर, राजकमल चौधरी, मधुकर गंगाधर, आनन्द प्रकाश जैन आदि को आमन्त्रित नहीं किया गया। किन्तु आप उसमें फिर भी पहुंचे। क्या इसका मतलब निकाला जाय कि आप भी किसी तरह के प्रचार की आकांक्षा रखते हैं या आप अपने को इतना अकेला महसूस करने लगे हैं कि आप कुछ लोगों के साथ आ जाने के लिए मजबूर हुए हैं?

—आकांक्षाहीन तो मैं नहीं हूँ लेकिन कौन आ रहे हैं और कौन नहीं आ रहे हैं इसकी पूरी खबर रखने में जितना कुशल भी मैं नहीं हूं। सोचता अवश्य हूं कि मुझे उसमें अधिक व्यवहारक और नीतिज्ञ होना चाहिए। पर मैं अपने सम्बन्ध में स्वयं को लेकर निर्णय कर ले जाया करता हूँ। टीम के साथ चलना शायद अधिक सकुशल होता हो, पर वह मुझे अब तक आया नहीं है। साधारण तया मैं कलकत्ता जा नहीं रहा था। २२ ता० तक यही जानता था कि नहीं जाना है। फिर जो पहुँचा तो वह बहुत कुछ इस कारण कि अपने आत्मीय बंधुओं के अनुरोध की अवज्ञा अशिष्टता समझ ली जाती। कुछ आकर्षण यह भी था कि मुझे अनुमान था कि वहाँ अभियुक्त के रूप में पेश होना होगा। मैं अहिंसा का विश्वासी हूं। चाव रहता है कि ऐसी परीक्षाओं में पडूं जहां प्रहार हो और देखूं कि मैं अपनी समता तो नहीं खोता हूँ। उसके साथ अपनी बात पर भी दृढ़ सा रहता हूं न। इन सब कमजोरियों के कारण मैं कलकत्ता गया और यद्यपि बहुत से आवश्यक नाम अनामन्त्रित रहे तो भी वहाँ पहुँच जाने में अपनी ओर से उनके प्रति कोई अविनय नहीं देखता। न, जाने के लिए पछताता ही हूँ। बल्कि अच्छा हुआ कि मुझे परीक्षा में पड़ना पड़ा। वहाँ की रिपोर्ट बहुतेरी

निकली हैं। अधिकतर मुझ पर क्षोभ उतारा गया है। मुझे याद नहीं पड़ता कि मैंने एक भी वाक्य बिगड़ कर कहा। उघड़े यदि कुछ शब्द आ गये तो उनकी चोट का मुंह सुना मेरी ही तरफ था। दाढ़ी में तिनके की बात अलग है वैसे मैंने विग्रह की ध्वनि में कुछ नहीं कहा, न समझौते की ठकुर-सुहाती में ही कुछ कह सका। इस तरह सत्य और अहिंसा इन दोनों दृष्टियों से मैं उस परीक्षा में पास हुआ यह मैं नहीं कह सकता। शिष्टाचार ऐसा भी हो सकता है जो सत्य की दृढ़ता को खा जाये, वह अपनाना उतना कठिन नहीं होता। साधारण सभा सौजन्य का निर्वाह सहज और ऊपरी व्यवहार है। यह आत्मीयों की गोष्ठी या और तकल्लुफ का प्रश्न नहीं था सचाई का प्रश्न था। उस सम्बन्ध में आज के दिन आवश्यक है हर कोई स्पष्ट और दृढ़ हो। मत भेद के बीच जो सौजन्य फलित हो सकता है वही मूल्यवान है। कलकत्ते से वह प्राप्त होगा और बढ़ेगा ऐसी मेरी आशा थी। बाद में जो अखबारों में छपा उससे आशा पूरी नहीं हुई और आगे के लिए मैं अवश्य सोचता हूं कि ऐसी गोष्ठियों में जाने के बारे में अधिक सयमी और सावधान रहूं।

■ कथा समारोह के सम्बन्ध में आपकी क्या प्रतिक्रिया है ?

—वह कथा समारोह एक ऐतिहासिक घटना मानी जा सकती है। इतने विविध और विमुख लोग एक साथ आसानी से जमा नहीं होते। आगे भी शायद यह कठिन हो पर निष्पत्ति जो हो सकती थी नहीं हुई। लोगों के भीतर के नकार निषेध अधिक बाहर आकर व्यक्त होते रहे और वातावरण में सम्वादिता उत्पन्न नहीं हो पाई विवादी स्वर मुखर रहा। आयोजन के समय कोई स्वस्थ और समग्र दृष्टि पीछे काम नहीं कर रहा थी। आयोजन कदाचित एकांगी वृत्ति के हाथ में अधिकांश बना रह गया। उतने सच में नहीं अधिक उपलब्धि हो सकती थी। फिर भी यह कि एक अवसर प्राप्त हुआ जहाँ साहित्यिक लोग अपने मन का विग्रह और वाद की विद्वत्ता एक दूसरे पर निकाल फेंकें। इस दृष्टि से समायोजन को उपयोगी और महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है।

■ इधर आपने पत्र पत्रिकाओं में उसकी रिपोर्टिंग पढ़ी होगी। आप उससे सहमत हैं ?

 अपनी अपनी मनचीती लोगो ने लिखी और
—सहमति का प्रश्न कहाँ है । अपनी अपनी मनचीती लोगो ने लिखी और
इसके सिवा दूसरा हो क्या सकता है । एक रिपोट मे उलटकामा के भीतर
मेरे नाम पर कुछ उदाहरण दिये गये हैं, न वे शब्द मेरे थे न भाव मेरे आ पाये ।
उलटकामा के भीतर उन्हे न रखा जाता तो पाठक समझ लेता कि वे लेखक
की याद के शब्द हैं जनेन्द्र के कथन के चाहे न भी हो। तब उतना भ्रम न होता ।
आगे अगर ऐसी सावधानी रखी जाय तो अच्छा है। मुनासिब तो यह हो कि
काट के भीतर के शब्द वक्ता द्वारा पहले प्रमाणित करा लिये जायँ । मैंने
उनकी सफाई देना जरूरी नही समझा । कारण मिथ्या के पाव नही होते ।
हर जगह उसकी काट करने दौड़ना उसको महत्व देना है ।
प्र हमने सुना है कि आपको कलकत्ता-समारोह के बीच कुछ व्यक्तियो ने
कांग्रेस फार कल्चरल फ्रीडम का एजेण्ट घोषित किया । क्या इस सम्बन्ध मे
आप कुछ कहना चाहगे ?
—नही । क्योकि जिन्होने ऐसा कहा, प्रश्न उनसे होना चाहिए कि किस हेतु से
कहा ? वह संस्था निषिद्ध तो है नही, अनिष्ट भी नही है । और यह मेरे लिए
कोई कृतज्ञता की बात नही है कि मैं उस संस्था से वास्ता नही रखता हूँ ।
फिर भी कहने वाले को क्या वैसे प्रचार की आवश्यकता हुई वही जाने ।
मालूम होते ही मैंने वह सूचना तत्काल वही अपने से निकाल बाहर कर दी थी ।
इतना ही मैं यथेष्ट मानता हूँ ।
प्र आज आप कथाकार और हिन्दी कहानी की नियति क्या मानते है ?
—मैं तो मानता हूँ कि कुल मिलाकर वतमान भविष्य की ओर बढ रहा है
और भविष्य उज्ज्वल है । कुछ अहवादी शक्तियाँ उस आशाप्रद भविष्य को
अपने हाथो मे या अधिकार मे बन्द मानती हो तो, उनको भले निराशा प्राप्त
हो सकती है किन्तु उनके नाते भविष्य ठिठकने वाला नही है । कई है जो
कलह कोलाहल से दूर हैं और कहानी के क्षेत्र मे सही दिशा मे कीमती काम
कर रहे हैं । वहा रचनात्मक काय टिकेगा और भावी को उजला करने वाला
सिद्ध होगा । नारे दावो नही जा बस बैठ जाने के लिए कभी-कभी उफन आया
करता है । काल गति से उसका सम्बन्ध नही है, चाहे उस नारे का युग-बोध
जैसे शब्दों द्वारा ही क्यो न ऊपर उठाया जाता हो ।

• • •

कितना नया, कितना पुराना

■ आपके नारी पात्र आपके साहित्य की सबसे बड़ी देन हैं लेकिन जिस नारी का विलक्षण चित्रण आपने कभी किया था क्या आप समझते हैं कि औद्योगीकरण के इस युग में उसमें परिवर्तन नहीं आये हैं ?

—मैं आपके प्रश्न का खण्डन नहीं करता। नारी जो मेरे साहित्य में प्रस्तुत हुई है कितनी साम्प्रतिक है कितनी आधुनिक है कितनी परम्परागत है यह मैं नहीं जानता। मेरे लिए प्रश्न वह असंगत है। सच यह है कि मैं उसके सामाजिक या सामयिक रूप पर नहीं अटका हूँ। मेरे लिए धर्म का, नारी धर्म का प्रश्न रहा है। इस प्रश्न की दृष्टि से नारी के रूप में वर्णित हुआ काल-या-देशगत विवरण विशेष संगत नहीं रहता। जीवन का धर्म उत्सर्ग और विसर्जन है। यह धर्म नारी के जीवन में अनायास प्रतिष्ठित देखा जाता है। गांधी को अहिंसा का स्तर कस्तूरबा से मिला। जो पुरुष के लिए साधना का नितिशा और अध्यवसाय का विषय है मालूम होता है वह नारी प्रकृति के लिए सुलभ और और सहज बन जाता है।

मेरी पत्नी सवेरे से उठकर दिन के दो बजे तक निरन्तर श्रम में लगी रहती है। उसे आज तक यह शिकायत नहीं हुई कि उस सारे समय में मैं आराम ही आराम सा नहीं करता हूँ। इसका जो चिन्तन और विवेचन नारी की दासता कहते हैं वे अपनी जानें। मैं तो इसे उसकी गरिमा और महिमा मानता हूँ।

क्षमा कीजियेगा, क्या यह पुरुष का दृष्टिकोण नहीं है ?

—निश्चय पुरुष का दृष्टिकोण है। इसे निरा स्वार्थ माना जा सकता है कि आराम को वह अपना हक बना ले और गरिमा महिमा के नाम पर चाकरी स्त्री के पल्ले डाल दे। पर पुरुष ने ही अपने चिंतन के अभियान में स्त्री में भी आधुनिक चिन्तन डाल दिया है। स्त्री भी यह मानकर कि पुरुष उससे कुछ बुद्धिमान है पुरुष की इस बनी हुई निपुणता को अपने पक्ष में स्वीकार कर लेती और भूल की राह चल पड़ती है।

उस दिन ही मुझे सुनने को मिला कि 'सुखदा' में जैनेन्द्र ने नारी के लिए घोर प्रतिक्रियावादी आदर्श प्रस्तुत किया है। लेकिन यूरोप में जब-जब गया, मुझे वहाँ की नारी की स्थिति अधिक करुण और दयनीय प्रतीत हुई। आर्थिक स्वतन्त्रता और स्वनिर्भरता के नाम पर वहाँ स्त्री को हीनतम स्थिति में डाल दिया गया है। यहाँ तक कि पैसे के लिए अपने को बेचने का वह अपना प्राकृतिक हक मानती है। प्रगति और उन्नति की इस धारणा से भला और हो ही क्या सकता है। आज भी भारत में यह झूठ नहीं है कि आदमी कमाने का मालिक है, लेकिन खर्चने की मालकिन स्त्री ही है।

मैं खुद अपने घर में पैसे के खर्च के मामले में उतना स्वतन्त्र नहीं हूँ जितनी स्वतन्त्र मेरी पत्नी है। इस स्थिति को मैं अपने लिए धन्यता की स्थिति मानता हूँ। मेरा यह आर्थिक पारतन्त्र्य मुझे संयम में रखता है।

■ आप चाहें न चाहें, औद्योगीकरण के युग में स्त्रियाँ बाहर आयेंगी, आ रही हैं।

—स्त्री कमाती हो तो पति होकर पुरुष उस कमाई का लाभ नहीं लेना चाहेगा। यह खयाल उसमें यह भाव जगा सकता और सामंजस्य में आड़े आ सकता है। उससे फिर समाज-परिवार के सूत्र क्षीण और छिन्न भिन्न होने की ओर बढ़ेंगे।

■ इधर आपने अपनी कुछ कहानियों में स्त्री पुरुष के सम्बन्धों की अस्थिरता का विवेचन किया है। क्या यह कहना सही होगा कि स्त्री पुरुष सम्बन्धों को आप समाज के बंधनों से परे—उनके उन्मुक्त अस्तित्व को स्वीकार करते हैं?

—समाज यदि आपसी सबंधों के विकास को रोकने के लिए घेरा बन जाता है तो उसमें समाज का ही अहित है। प्रेम जड़ तत्त्व नहीं है। वह चिन्मय है इस लिए विकासशील भी है। जिसको अस्थिरता आपने कहा उसको मैं विकसन-शीलता कहूंगा। पत्नी को पाकर पुरुष का प्रेम रुक नहीं सकता, न पति का प्रेम जकड़ कर होकर रह सकता है। ऐसा हो तो यह प्रेम का अपलाप होगा। अर्थात ईश्वर के प्रति अपराध हो जायगा। पातिव्रत और सतीत्व अथवा पतित्व के आदर्श को उस स्थिर और जड़ रूप में मानने के मैं शुरू से ही खिलाफ हूं। शायद अमुक ओर से घिरकर रह जाने को धर्म मान लिया गया था। मैं उनको सुन कर अधम मानता हूं। यही आप और दूसरे बन्धुओं को मुझसे शिकायत होने लगती है।

■ हाल ही में कमलेश्वर ने आपको आशीर्वाद का कहानीकार कहा है। आपका इस संबंध में क्या कहना है?

—मेरी समझ में नहीं आया कि वह क्या कहना चाहते हैं। वैसे मैं स्त्री पुरुष संबंधों में उस विशिष्ट कल्पना और धारणा को भारतीय संस्कृति का एक अनुपम उपहार मानता हूं।

■ सन ६० के बाद की कहानी के बारे में आपके क्या विचार हैं?

—मैं काल को विभक्त करके पकड़ने के खिलाफ हूं। जो लोग ऐसा करते हैं वे सत्य को खंडित करते हैं। काल तो प्रवाही है। काल के पट पर सत्य अभिव्यक्त होता रहता है इसलिए काल की अमुक अवधि में साहित्य की रचना का विभक्त नहीं किया जा सकता। अध्ययन के निमित्त विभाजन हो तो हो। आप इतिहास देखिये मार्क्स से भी ।

■ आप मार्क्स से बहुत प्रभावित जान पड़ते हैं।

—मैं मार्क्स से प्रभावित हूँ इस अर्थ में कि मार्क्सवादी नहीं हूं।

■ आप मानते हैं कि इधर एक दशक में कहानी बदली है?

—परिवर्तन तो क्षण-क्षण हो रहा है। कल जो था आज नहीं है—आज जो है, कल नहीं होगा।

■ मोहन राकेश, कमलेश्वर और राजेन्द्र यादव ने, आप समझते हैं कहानी को नया दिशा दी है ?

—कहा न कि परिवर्तन तो होते रहते हैं। हाँ इतना जरूर है कि जैनेन्द्र और निर्मल वर्मा में कम फर्क है। कमलेश्वर और जैनेन्द्र में अधिक फर्क है। यानी निर्मल और कमलेश्वर में, दोनों का समय एक होने पर भी बेहद फर्क है। सो क्या ? अंतर समय से नहीं पृथक् निजत्व के कारण से होता है।

■ आप नये लेखकों को क्या संदेश देना चाहेंगे ?

—वे भूल जायें कि वे एक दूसरे से कितने नये हैं।

■ साहित्य की नवीनतम प्रवृत्तियों—भीड़ में अकेलापन और अंधेरे की आवाज के बारे में आप के विचार ?

—आज जो आर्थिक विकास है, उस की बहुतायत है उसमें व्यक्ति के अहं पर जोर पड़ रहा है। इस तरह बुद्धिवाद ठेला जाकर अध्यात्मवाद की ओर बढ़ता जा रहा है। जैसे अध्यात्मवाद में कहा गया है कि इंसान अकेला दुनिया में आता है अकेला जाता है। वही बात आज दोहरायी जा रही है—साहित्य चेतना का वह सूत्र मूलाधार बन रहा है। व्यक्ति को अस्तित्व के विरोध में अस्मिता की चिंता अधिक है। निज को निखिल के बनाम पाने और दिखाने की चेष्टा उसके लिए आवश्यक बन आई है।

■ आपको जीवन में जो कुछ कहना था, वह कह चुके या अभी कुछ कहना बाकी है ?

—अरे, अभी तो मैं जिंदा हूँ। जिसके लिए इस दुनिया में आया हूँ वह प्रयोजन हो गया हो और फिर भी मैं यहाँ रहने दिया जाऊँ, तो यह ईश्वर के दरबार की भूल होगी, जो हुआ नहीं करती।

■ आजकल आप क्या लिख रहे हैं ?

—कुछ नहीं।

■ क्या आप समझते हैं कि आत्मतुष्टि के लिए लिखा जाता है ?

—यदि यह बात ४९ प्रतिशत सही है कि अहंतुष्टि के लिए लिखा जाता है तो यह बात ५१ प्रतिशत सही है कि अहं से मुक्ति के लिए लिखा जाता है।

■ बंगाल की भूखी पीढ़ी के बारे में आपका क्या ख्याल है ?

—मैं समझता हूँ उनमें भूख कम है या नकली है या है ही नहीं। खाने पीने की चीज़ों से बाज़ार भरे पड़े हैं उन पर वे टूट क्यों नहीं पड़े ? लगता है, उनकी भूख पेट की भूख नहीं है।

■ क्या आप यह नहीं समझते कि यह भूख पेट की नहीं है। कुछ और ही भूख है जो कविता में निकल रही है ?

—यानी वह भूख सिर्फ कविता वाली है। मुझे यह लगने लगा है कि शब्द से मुक्ति नहीं है इसलिए शब्द के द्वारा जो अभिव्यंजना है उसकी ओर पूरा ध्यान कभी मेरा नहीं गया था—अब तो उसमें भी कम हो गया है।

■ आज के युवकों के विद्रोह के बारे में आपका क्या कहना है ? उनके अन्दर जो गाली है उसके लिए कौन दोषी है ?

—पहले तो गाली उनके अन्दर पैदा हुई यही गलती है। अगर वह पैदा हो भी गयी है और वह मुझ जैसों के ऊपर निकल कर खतम हो जाती है तो यह हमारा सही उपयोग होगा।

■ लेकिन गाली पैदा ही क्यों हो ?

—इसलिए कि मनःस्थिति और परिस्थिति में सही सम्बन्ध स्थापित वे नहीं कर पाये। परिस्थिति तो सदा सामने वाली होती है। यदि हम उसे स्वीकार कर लें तो क्षोभ की जगह श्रम का आरंभ हो सकता है वैसे मैं क्षोभ, क्रोध विद्रोह आदि को सृजनात्मक प्रेरणा की त्रुटि मानता हूँ।

■ किसे दोष दिया जाय ?

—दोष दिया जाने को नहीं होना हाँ दोष लिया जा सकता है। आज के विद्यार्थियों को जैनेन्द्र दोष नहीं देगा। इसमें दोष वह अपना ही मानता है।

■ आपके विचार में भारतीयता क्या है ?

—कुछ तो वह जो प्रकट है। जैसे सामाजिक रीति-नीति रहन सहन दर्शनादि के रूप और ढाँचे। और कुछ है जो अव्यक्त है। उसका सम्बन्ध आत्मा से है। वह आन्तरिक हुई। उसी पर मेरा ध्यान है। उसमें लेने से

अपने को देना प्रमुख है। यह भारतीय संस्कृति और भारतीयता का मूल तत्व माना जा सकता है।

* क्षमा कीजिये हमारा फाटोग्राफर नहीं आ सका।

—कोई बात नहीं पुराना ही चित्र छाप दीजिये। उसमें मैं जवान लगूंगा। अच्छा ही है।

● ● ●

कहानी-लेखन और न जानना

यह कथा समारोह तनिक विशिष्ट है कि सभी तरह के कथाकार यहाँ हैं। कुरसी उछालना मैंने भारत में नहीं देखा है। हाँ लंका में देखा है और जिसके पास उछालने के लिए शब्द हैं वह कुरसी क्या उछालेगा? जितना जो लक्ष्मीचन्द्र जैन ने कहा पहले तो उससे मन में आतंक छा गया। उसके बाद फिर अपेक्षाएँ कहानी जो उन्होंने रखी हैं हम सबमें उससे कुछ घबराहट पड़ गयी। मैंने जिन्दगी में केवल एक इम्तहान दिया है वह काफी है। बारबार इम्तहान में पड़ूँ इसी डर से मैं आता नहीं था। कहानी लिखना तो मैं लिख जाता हूँ पर कहानी के बारे में पूछताछ होगी और परीक्षा होगी अगर आज से मुझे ऐसा पता लग जाये तो शायद अब से लिखना बन्द कर दूँ क्योंकि मेरा अपना अनुभव यह है कि जानना जब काफी नहीं होता है उसमें मन नहीं भरता है तब कहानी शुरू होता है और कहानी की भाषा जीने की भाषा है जानने की भाषा नहीं। जानने की भाषा जो कहानी पर लागू करते हैं और अपेक्षा करते हैं कि कहानीकार से कुछ जानकारी भी हासिल करें कहानी के सम्बन्ध में वे शायद ज्यादती करते हैं। मैंने कहानी लिखी, किस जीवन दृष्टि से लिखी जो वनदृष्टि शब्द कुछ ऐसा लम्बा भारी भरकम शब्द है कि जीवनदृष्टि शब्द उस समय मेरे ध्यान पर आ जाता तो शायद कहानी लिखी नहीं जा सकती थी। कहानी लिख गये, लेकिन जीवन दृष्टि का, वक्तव्य का पता नहीं है वह अब तक निर्मित नहीं हुई क्योंकि जब भी दृष्टि कोई बनती है, जीवन में ऐसी कुछ घटनाएँ दरसन में आ जाती हैं कि वह दृष्टि फिर धुल-पुँछकर साफ हो जाती है। ऐसा मालूम होता है कि दृष्टि न बन पाये, तभी कहानी-

कार के लिए खरियत है। जहा जम गयी दृष्टि, फिर आप कुछ तत्ववाद लिखिये, कुछ और लिखिये, कुछ उपदेश दीजिये और बहुत से काम हैं जिसके पास जीवनदृष्टि प्राप्त हो गयी वह तो सिद्ध हो गया। फिर उसको कहानी लिखने की आवश्यकता का ख्याल रहना ही नहीं चाहिए। मैंने तो कम स कम कहानी दृष्टि प्राप्त करने के लिए लिखी, दृष्टिदान के लिए नहीं। मुझे लगता है कि जीवन कितना गूढ़ अनन्त, विलक्षण और रहस्यमय तत्व है कि नहीं लगता कोई दृष्टि ऐसी हो सकती है जो यहाँ से वहा तक घेरे मे उसे बाँध ले! होते होंगे कोई सिद्ध लोग पहुंचे हुए लोग जो घर लेते होंगे जीवन को लेकिन मालूम नहीं कि वे अपने को कितना घेर लेते हैं। शायद जीवन के नाम पर वे अपने को घेर लेते होंगे। जीवन तो क्या घिरता होगा क्योंकि जीवन तो अनन्त है। अनन्त काल है लेकिन अनन्त काल भी जीवन की अनन्तता को समाप्त नहीं करता है चुकाता नहीं है। दिमाग है हरएक के पास है और करीब करीब हर आदमी यह सोचता है कि जो उसके पास है और जितना है वह दूसरे के पास नहीं है, एक उसके पास है और बाकी में सारी दुनिया है। अक्ल चीज़ ही ऐसी है। दूसरे का धन बड़ा लग सकता है लेकिन दूसरे की अक्ल कभी बड़ी नहीं लग सकती है। तो मेरे मन में शुरू से इस अक्ल नाम की चीज का अविश्वास रहा। और मैंने जब लिखना शुरू किया तो मुझे ऐसा लगा कि प्रश्न और संशय शुरू से ही आ गया है। लिखने लगा तो लगा संशय हुआ कि क्या यही ठीक है इतना ही ठीक है? ये जितने भी हमारे मत हैं मान्यताएं हैं कि हम जमकर बैठ जाते हैं जिसके लिए अक्ल को हम मौका देते हैं कि वह धमला करे, मुझे माफ करें। यदि दुनिया को खण्डित कर दें वर्गों में बांट दें तो यह अपनपन के मारे में होता होगा। इसका मूल्य सन्दिग्ध है। यह काम बड़े लोगों के लिए ही छोड़ देना चाहिए। मेरे लिए तो जिज्ञासा ही काफी है। ज्ञानी बनने की अभिलाषा का मेरे बस की है नहीं। मेरे लिखने का कारण जिज्ञासुता और सम्पन्नता है। जिसको कहानी लिखना है उसको विनता से घबराना चाहिए और अज्ञता को कभी छोड़ना नहीं चाहिए। जो ज्ञान सत्य है, टिकनेवाला है उसका रूप सत्य का है मतवादिता का नहीं है। ज्ञान वह है जो जीवन को समय कर सकता है। जानने

की इच्छा ही बुद्धिमत्ता का लक्षण है—जो जान गया कि वह जानता है, जान चुका है वही है जो नहीं जानता है। और जो यह जानता है वह इच्छुक रहता है। अगर कोई विचार है तो उसे आचार में परिणत करें। दूसरों से टकराने के लिए वह उसे नहीं फेंकता। वे लोग जीवन में परास्त हो गये हैं टूट गये हैं बिखर गये हैं जिन्होंने जीवन में केवल जाना ही जाना है। दो के बाद जिन्होंने तीन चार एम०ए० किये हैं उनकी गति आप देख लीजिये कि क्या हो गयी है। जीवन में से जो उपलब्ध होता जाता है और फिर जीवन पर घटित होता जाता है वह तो ज्ञान है। मैं तो इसी में खैरियत देखता हूँ कि किनारे से निकल जाऊं। हमारी कहानी लेखक बिरादरी में से कोई इसका जवाब देगा। इस समारोह की निष्पत्ति क्या होगी मैं कह नहीं सकता। कथा की गति में वेग आयगा आये तो बहुत अच्छा है। लेकिन अधिक सम्भव यह भी है कि अवरोध आयेगा। क्योंकि कहानी लिखी जाने और पढ़ी जाने से चर्चा जाने की चीज हो जाय तो समझ लीजिये कि वेग आयगा कि अवरोध? कहानी एक ऐसी चीज है कि लिखने वाले और पढ़ने वाले के बीच किसी बिचौलिये की आवश्यकता नहीं होती। ईश्वर और मनुष्य के बीच पुजारी इत्यादि इतने लोग होते हैं कि ईश्वर गूढ़ होता चला जा रहा है। मैं मानता हूं कि कहानी भी ऐसी ही सीधी-सादी चीज है कि उसमें एक हमारा बिचौलिया हो जो लेखक और पाठक के बीच कहानी की व्याख्याएँ करे तो मैं मानता हूं कि कहानी जब तक पाठक और लेखक के बीच पड़ी जाता है, समझी नहीं जाती। यह सम्भव है कि इस व्यवधान के कारण पाठक भी प्रभावित हो कि कितनी ऊंची बात है जो हमारी समझ में नहीं आयी। और लेखक भी समझें कि पण्डितवान चमत्कृत रह जाते हैं—इसमें बड़ी बात क्या है? आम तौर पर जो चीज समझ ली जाती है उसका मूल्य क्या है यह तो बहुत सस्ती बात है। ऐसी चीज होनी चाहिए जिसे समझने में दिमाग पर जोर पड़े। इस व्यवधान से आलोचक प्राध्यापक समीक्षक कथा जानो आदि का समावेश हो जाता है तो मैं मानता हूं कि कहानी की प्रतिष्ठा उसमें घटती ही है। एक और चीज है जिसकी बाबत चर्चा चलता रहती है कि यह जो समय है युग है समाज है वर्तमान है इनके साथ कहानी और साहित्य का सम्बन्ध क्या है?

कहते हैं कि साहित्य दपण है समय का, युग का दपण ही हो तो साहित्यसे जो अपेक्षाएँ हैं वे पूरी नही हो सकेंगी। अगर केवल मात्र प्रतिबिम्ब न होतो वह काम पूरा हो नही सकेगा। इसलिए मुझे लगता है कि जो वस्तुगत तथ्य है जो समयपर प्रतिफलित दीखता है उसको ज्या का त्या हम कहानी म बारीकी के साथ चित्रण कर दते हैं तो मेरे खयाल मे इतने मात्र से कहानी सफल नही हो जाती। वह सदा साहित्य नही बन जाती है। मुझे तो ऐसा लग रहा है कि यह जो पैसा बढ रहा है इससे हमारी बुद्धि पनी और प्रखर हो गयी है। इससे जो कुछ भी हम दखते हैं, उसको खण्ड खण्ड, अणु-अणु छितराकर देख लेना चाहते हैं, विश्लेषक बुद्धि से। वह इतना विश्लेषण करती है इतना विश्लेषण करती है कि संश्लिष्ट तत्व लगभग रह नही जाता। जिसे रस कहते हैं प्रेरणा कहते हैं वह संश्लिष्ट प्रभाव है। विश्लेषक बुद्धि केवल बारीकी मे उतर सकती है। किन्तु रस और प्रभाव की अवाप्ति उसम कम हो जायगी। जीवन के साथ कहानी का क्या सम्बन्ध है इस पर जब विचार करता हूँ तो मालूम होता है कि वैज्ञानिक सम्बन्ध नही है। कहानी का सम्बन्ध अवश्य जीवन के साथ रोमेण्टिक सम्बन्ध है और रोमेण्टिक सम्बन्ध के माने ये कि हम प्रयत्नपूवक अन्तर रखते हैं। अन्तर नही रखते हैं तो आदर समाप्त हो जाता है मूल्य समाप्त हो जाता है मर्यादा समाप्त हो जाती है। अन्तर रखते हैं तो भावना का अवकाश रहता है। अगर विज्ञान वह है जो सेंटीमेंट के लिए अवकाश नही छोडता है तो वह विज्ञान एटम बम बनायेगा और एटम बम को सिफ रखे रहने से सन्तुष्ट नही हो जायेगा, आगे भी चलेगा। कोई चीज है कि जिसके कारण विज्ञान अपनी मर्यादा म रहता है। जीवन के बारेम मेरा दृष्टिकोण यना है कि आन्तर आवश्यकता है— जीवनमात्र का जैसा श्वाइत्जर कहते थे। अन्तर रख सकना जीवन के लिए आसान काम नही होता। क्योंकि हर चीज म अपूर्णता दिखाई देती है और आदर तिरोहित हो जाता है। हर कोई अपने को मानता है और किसी को नही मानता है। इस प्रकार समाज चलता नही चल सकता नही, लेकिन म अपने म दूसरे को मानूं और अपने से अधिक मानूं यदि ऐसा हो सके तो मैं समझता हूँ कि हमारे जीवन म न विष समाप्त हो जायगा और अमृत पैदा होगा। जीवन उस विज्ञान का स्पश दे जो ब्रह्माण्ड तक व्याप्त है और जिसे मैंने

रोमांस कहा। विराट के प्रति जो विस्मय का भाव है वह विनान है। साहित्य की यदि कोई उपलब्धि है या उपादेयता है तो वह आदमी और आदमी के बीच म ग्रहता के सम्बन्ध को अनिवाय नहीं समझता बल्कि दूसरे प्रकार का सम्बन्ध मानता है—सहानुभूति का। इससे आगे प्रेम का सम्बन्ध है। जब म किसी के निकट झुकता हूँ उसके प्रति कृतार्थता अनुभव करता हूँ उसे प्रथम और अपने को गौण मानता हूँ तो वह प्रेम है। इसी का बढ़ा हुआ रूप भक्ति है। साहित्य म जब भक्ति का तत्त्व रहता है तो वह चरमास्तव पर रहता है। और जितना उसम तिपन, ग्रहता का भाव रहता है वह अपने प्रयोजन से च्युत होता है। कहानी के बारे मे मुझे लगता है कि साहित्य मे कोई विधा नहीं है जो कहानी के अभाव म टिक सके। कहानी ही थी, उसका रूप बनावट, पहनावा कविता का था। व हमारे पुराण हैं जिन्होंने हमारी संस्कृति की एकता को कायम रखा। उसके मध्य मे कहानी जरूर रही है। जो कविता हम प्रभावित करती है उसके मध्य म कहानी की सिचुएशन जरूर रहती है। तो भी कुछ मुक्तक हैं जिनम कथा का संदर्भ नहीं है। कथा की इतनी प्रधानता केवल इसलिए है कि जीवन के सम्बन्ध म हमारी मान्यता स्थिर और धधकर रह जाये, निमाण उस वक्त चला करता है। कहानी संस्कार देती है। उसका संशोधन करती है। चलता हुआ जो जीवन व्यवहार है उसके द्वारा सत्य की झाँकी कहानी देती है और वह टिक जाता है। दाम म, सूम म, बँध गया वह तो स्टेटस-को का समथन करनेवाला होता है, जीवन को आगे नहीं बढ़ाता है। उपनिषद का जब परम गुह्य बात कहनी हुई तो उनके पास कथा के अलावा कोई सहारा नहीं था। कथा साहित्य का यही साफल्य है कहानी से यह बात यदि हम मालूम हो जाय जिसे मालूम होना चाहिए, कि जितने भी वाद हैं जितनी मान्यताएँ हैं उनका सापेक्ष्य मूल्य है। मनुष्य उसके मध्य म है जो निरपेक्ष मानव से व्यवहार म अलग जाकर मानव-व्यवहार से अलग जाकर, कोई मन्तव्य कोई सूत्र अपने आप म सत्य हो नहीं सकता है। मानव-व्यवहार की कसौटी पर जो टिकता है वह सही है तो मैं मानता हूँ कि ऐसा हमारा मनोभाव बन जाय तो साहित्य ने, कथा साहित्य म, अपना काम बहुत कुछ पूरा किया। मैंने कहानियाँ लिखी हैं और जब एकाध कहानियाँ छप गयी थीं, तो

मैं बहुत उत्सुक रहा कि मैं यह जानूँ कि कहानी है क्या चीज ! इधर उधर जाता था कि कहानी क्या होती है, मुझे बताइये ! एकाएक जब कुछ कहानियां छपी तो किसी ने कहा—छपा हुआ मिल गया पढ़ने को, जब मैं घूमता फिरता था दिल्ली मे और आदत यह थी, कि जीवन से परास्त हो चुका था, यहां कलकत्ते मे आया था, इस आशा से कि दस प द्रह रुपये की नही नौकरी मिल जाये तो रह जाऊँगा। मां का सामना नही होता था । यह मेरी हालत थी और मैं जानना चाहता था कि कहानी क्या होती है तो उसी समय पढ़नेको छपा हुआ मिल गया कि कहानी का जानकार जनेन्द्र है। तब से कहानी का लिखना मेरा चलता रहा है उसमे कोई खास दिक्कत नही हुई है, लेकिन यह बात मेरे मन म बध गयी है कि कहानी का जानना कुछ होता नही है। जो कहानी के बारे म इतना जानकार था और वह जगह जगह जाकर पूछता था कि कहानी क्या होती है बताओ ! और उसी के सम्बन्ध म यह छपा मिल जाता है कि उसके समान जानकार कोई नही है, तो सिवा इसके क्या साबित होता है कि कहानी जानने की कोई चीज नही है। और उसकी भाषा जब जानकारी की भाषा बनायी जाती है और लिखी जाती है तो मैं मानता हूँ कि कहानी पर कुछ अवलेप आ जाता है। और जब कहानी जानकारी की भाषा से मुक्त होकर जीने की भाषा अपनाकर चलती है तो सरल हो जाती है सबके लिए सुलभ हो जाती है। पश्चिमके लिए इसी कारण यह शायद गूढ़ हो जाती है। मैं मानता हू कि कहानी के सम्बन्ध म परिचर्चा का जो बीडा आपने उठाया है वह साहस का काम जरूर है, लेकिन मेरी प्रार्थना और भावना यह है कि कहानी-लेखन की दृष्टि स भी यह समारोह उपयोगी और लाभकारी हुआ तो म अपने को आप सब को और समारोह को सफल समझूगा—जिसकी कि सम्भावना मुझे कम दिखती है।

• • •

हिन्दी कहानी मे यथार्थवाद का विरोध

■ आपके कलकत्ता कथा समारोह मे दिये गये भाषण पर हुई प्रतिक्रियाओं से ऐसा आभास होता है जैसे आपने यथार्थवाद का विरोध किया है। क्या आप इसे साहित्य के लिए इष्ट नही मानते ?

—वाद को साहित्य में मैं ठीक नहीं मानता हूँ। वाद स्थित मत का प्रतीक है। साहित्य में स्थिति से आगे गति की प्रतिष्ठा है। इसलिए किसी भी मतवाद के प्रतिपाद्य के लिए मैं साहित्य में अवकाश नहीं देखता हूँ। फिर यथार्थवाद की सत्ता तो मुझे और भी सीमित जान पड़ती है।

कहा जाता है कि साहित्य हमारे जीवन का दर्पण है। साहित्य के लिए यह स्थिति कि वह केवल बाह्य जीवन का प्रतिबिम्ब है मुझे ग्राह्य नही। आवश्यक मालूम होता है कि वह उस जीवन का अतिक्रम भी करे। इसलिए मैं मानना चाहता हूँ कि यथावस्थित यथार्थताओं से अधिक साहित्य में संभावनाओं और कल्पनाओं का प्रतिफलन मिलता है। इन्हीं तत्त्वों के कारण साहित्य जीवन के लिए प्रेरक भी हो पाता है।

ऐसी मान्यता रखकर मेरे लिए अपने आरम्भिक भाषण में यह कहना आवश्यक हो गया कि केवल विश्लेषणपरक बुद्धि से जो रचना होगी वह यथार्थ को पकड़ने की कोशिश में पर्त पर पर्त खोलते हुए अन्त में नास्ति पर पहुँच जायेगी और उसमें समन्वित प्रभाव प्रयोजन की कमी होने लग जायगी। आवश्यकता साहित्य सृजन में उस अनष्ट आस्था की भी है जो वस्तु को अलग और खण्डित करके ही न देखे, बल्कि उसको अखण्ड के सन्दर्भ में सौन्दर्य से मंडित

करके भी देख सके। इसको यथार्थ आग्रही से अधिक सत्य-आग्रही दृष्टि कह सकते हैं। यथार्थ के आग्रह में सौंदर्य छिन्न भिन्न हो जाता है। वस्तु की अनेकता बेहद उभर पड़ती है। जैसे मानो सब कुछ परस्पर को व्यर्थ करता हुआ सिर्फ कटा फटा हो। साहित्य वस्तु की अनेकता में से अपनाकृत दृश्य एवं दर्शन का एकता स्पष्ट करता है। इसमें द्रष्टा और दृश्य के बीच मानो इतना अन्तर रहने दिया जाता है कि दृष्टि काम कर सके और वहां सौन्दर्य का आविष्कार कर सके। चित्र से आंख सटाकर रखेंगे तो उसका सौंदर्य समाप्त हो जायगा। वहाँ रंग के धब्बे भर रह जायेंगे। भाव और अर्थ वहां से तमाम लुप्त हो चुका होगा। आज वैज्ञानिक एवं औद्योगिक युग के प्रभाव में कुछ ऐसी ही घटना घटती दिखाई दे रही है। अति बौद्धिकता का जोर है वस्तु और व्यक्ति के बीच का अन्तर यथार्थवादी आग्रह के कारण विलीन सा हुआ जा रहा है। मुझे कहना हुआ था कि इस युग में काव्य की जो मांग घट रही है, आदर्श का स्थान अवगणनीय बन रहा है सो श्लाघनीय नहीं है। मुझे आवश्यक मालूम होता है कि वस्तु से वास्तव का अन्तर देखा जाय और रोमांटिक वृत्ति को तनिक फिर से अपनाया जाय। वैसी तटस्थता और निरपेक्षता के बिना वस्तु जगत का आदाय पकड़ में नहीं आयेगा। बल्कि वह वस्तु-जगत ही हमको पकड़ लेगा और इस प्रकार साहित्य वस्तु स्थिति को सँभाले रखने वाली रानीति का अनुवर्ती मात्र रह जायगा उसका मार्गदर्शक एवं दिग्दर्शक नहीं हो सकेगा।

आज वैज्ञानिक बुद्धि के वशवर्ती होकर हम गणना में फंस गए हैं। वह गणना-शक्ति इकाई को एक दूसरे से अलग कर देती है। प्रत्येक पृथक और घटक हो जाता है किन्तु सब अलग अलग होने के लिए ही नहीं हैं। उनके बीच में व्याप्त एकता का सूत्र है जो अमोघ है। साहित्य उसी अमोघ अनिवार्य यद्यपि अप्रत्यक्ष तत्व की आस्था रखता और उसकी प्रतिष्ठा करता है। अनेक के बीच वह ऐक्य का उद्घाटन करता है। यही ऐक्य है वह पष्ठ सत्य जो यथार्थ को सच्ची यथार्थता देता है। नहीं तो यथार्थ स्पर्द्धा प्रतिस्पर्द्धा से भरा एक उलझाव मात्र रह जाता है और उसमें हर स्वयं इतना प्रधान बन जाता है कि वह सब-

स्व को मा डालना चाहता है । इसी वृत्ति का परिणाम है कि संघर्ष सब कहीं दीखता है और सौमनस्य का अभाव सा हुआ जा रहा है ।

इसलिए आरम्भ म ही मैंने यथार्थवाद के प्रति अपनी दर्ज अक्षमता प्रगट की थी और आस्था की आवश्यकता का समर्थन किया था।

यह आज की सभ्यता और विश्व की मानसिकता के प्रवाह को देखते हुए मैंने कहा था । मुझे डर है कि हिंदी कथा क्षेत्र म नये पुराने नाम की लकीर जो बना विवाद की स्थिति पदा कर डाली गई है, उसके सम्भ म उन वाक्यो का उपयोग किया गया और फिर नायक उसके प्रति दुर्लक्ष्य हो गया । मेरे मन म उन नयी पुरानी समस्याओ के लिए स्थान कभी नहीं रहा न अब है । म मानता हूँ कि उनके सहारे चलकर साहित्य के मूल्य निर्णय के संबंध म कोई प्रकाश मिलने वाला नहीं है ।

■ आपने जो सन्निष्ठ दृष्टि की बात कही वह तो ठीक है किन्तु विज्ञान के इस युग म शामक हुए बिना लिखा गया साहित्य पाठक को विभ्रमित ही नहीं करेगा ?

—विश्लेषक और विवेचक बुद्धि को ताक पर रखकर साहित्य लिखा ना सकेगा यह मैं कस कह सकता हू । लेकिन हाँ विधान और अनुमान से इतर यदि सृजन मे उसका उपयोग होगा तो उस बुद्धि का भावना की आवश्यकता होगी । एक शब्द प्रतिबद्धता आज कल चला करता है । आस्था के अभाव म प्रतिबद्धता सम्भव नहीं है । यदि यह प्रतिबद्धता आत्मगत बिल्कुल न हो सर्वथा वस्तुगत हो जाय तो साहित्य समाप्त हो जाता है सिर्फ राज कारण हाथ म रह जाता है । तब बड़ा बड़ी और आपाधापी आदि का प्रवेश साहित्य को घर लेता है । हरेक के लिए यदि अपना अपना स्व और स्वार्थ ही यथार्थ हो जाता है तो फिर बीच म से उनके प्रेम तिरोहित हो जाता है। साहित्य का सर्वस्व उन सबके बीच का प्रेम ही है वही उसका यथार्थ भी है । सबका अपना विजय और विरुद्ध स्व और स्वार्थ साहित्य के लिए मिथ्यार्थ बन रहता है । साहित्य और राजनीति म यही अतर है । इसलिए वह दृष्टि जो स्वत्व को और स्वार्थ का बिना एक परमार्थ म मिला-जुला अभिन्न देखती है, इस दुनिया म किंचित् रोमांटिक दृष्टि समझ ली जाती है । कह लिया जाय उस रोमांटिक

लेकिन अंत में सत्‌दृष्टि भी वह ही है। इस दृष्टि को अपनाने में बुद्धि के लिए भरपूर पुरुषार्थ का अवकाश रहता है। सच पूछिये तो उस बुद्धि के साथ सही सही यथार्थ तभी हो पाता है जब वह उस आस्था से अपना सामंजस्य बिठाने का निरंतर प्रयास करती रहती है। अन्यथा आस्थाहीन बुद्धि तो निरी अहङ्कृत हो जाती है और निंदा आलोचना का या काटने कुतरने का ही उसका एक काम रह जाता है। वह रचना निर्माण में फिर समर्थ नहीं हो पाती है।

■ इसका अर्थ यह हुआ कि आप साहित्य में जो यथार्थवाद आज चल निकला है, उसे आस्थाहीन बुद्धिज मानते हैं और यह भी कि वह घटिया है। यहां साहित्य की परिभाषा का प्रश्न उभरता है जिस पर कलकत्ता कथा समारोह में बहसें हुई थीं। क्या साहित्य की परिभाषा भी समय समय पर बदलती रहनी चाहिए। कलकत्ता कथासमारोह की इस दिशा में क्या उपलब्धि रही?

—हाँ यथार्थवाद जो कहा जाता है प्रकृतवाद तक पहुँच गया सो शायद इसी आस्था च्युत बुद्धि प्रयोग के कारण।

मैं यथार्थ शब्द को सत्य में मिलाकर खो देना चाहता हूँ। ऐसे यथार्थ वस्तुता और बाह्यता से मुक्त होकर अंतरंगता और आत्मता से अपनी संधि स्थापित कर लेता है। ऐसे ऑब्जेक्टिव और सब्जेक्टिव में अभेद स्थापित हो जाता है एवं समन्वित संयुक्त इंटिग्रल वास्तविकता अथवा सत्ता के प्रति उन्मुखता प्राप्त होती है। यथार्थ शब्द अपने आप में आत्मता से जो अछूता रह जाता है सो उसी मात्रा में अवास्तविक भी बन जाता है। इसी से स्थिति अनिवार्यतया यह बनी और आगे भी बन सकती है, कि यथार्थ के वाद में से प्रकृतवाद या अश्लीलवाद जन्म ले निकले।

नहीं, विचार के उस स्तर पर कलकत्ता के कथा-समारोह में कोई उपलब्धि नहीं हुई। एक बहुत संकरे दायरे में बातें चलती रहीं और वहाँ जो कुछ हुआ उसमें काफी तो मेरे लिए अगम बना रह गया। कुछ व्यक्तिगत चर्चाएँ भी रहीं जिनका सार्वजनिक महत्त्व नहीं बनना या मानना चाहिए।

कलकत्ते का यह कथा समारोह संस्कृति-संसद की ओर हुआ था। उनका प्रयत्न सचाई के साथ उस कथा समारोह को पूरी तरह सफल और समग्र और

प्रतिनिध्यात्मक बनाने का था। यदि वह वैसा नहीं हो सका, कुछ एकांगी बन गया, तो कारण कुछ अन्य अथवा अन्यत्र रहे होंगे। लेकिन इन नेपथ्य की बातों का न मुझे परिचिति है, न चिंता है। इस ओर ऐसे समारोहों में साहित्येतर वातावरण बन ही जाया करता है। मेरी वहां जाने की रुचि अथवा वृत्ति नहीं थी। दार्स तारीख तक मैं निश्चित जानता था कि मैं नहीं जा रहा हूं। बीच के डेढ़ दिन में मैं कुछ ऐसा घिर गया कि अंत में मैंने अपने को कलकत्ते में पाया। यह निस्सन्देह बड़ा सफलता है कि इतने हिन्दी-कथा से संबंध रखने वाले लोग वहां उपस्थित हो सके। सभी कथा पर्याय विचारक के बंधु थे। उससे वातावरण किसी निश्चित स्तर का नहीं बन सका। मालूम होता है ऐसे संयोजना में विस्तार के लोभ का संवरण अधिक उपयोगी होगा। यह मैं नहीं मानता कि पुनरुक्त बातें हो सकें तो उससे अनिष्ट होता है। यह भी कि न वहां आपस का मनोमालिन्य था, न पैदा हुआ। कुछेक अप्रियताओं की झाम्बर मतभेद वहां मानसिक और वैचारिक था जो स्वाभाविक और उचित है।

कथा लेखकों से कथा मीमांसा में अवसर पर अपेक्षा रखी जा सकती है कि वे किताबी भाषा में बात कम करेंगे जिसमें भारी भरकम शब्द देह आ जाते हैं। यानी कुछ निजी और घरेलू भाषा में की जायगी जिसमें कि परस्परोपलब्धि हो सके। शास्त्रीय शब्दों में की जानेवाली चर्चा किंचित परोक्ष और दुर्गम हो जाती है। ऊपर से रिपोर्ट तो अच्छी बनती है, निष्पत्ति कम होती है। समझ नहीं आता कि कहानी लेखक किताबी भाषा का विवेचना में क्या पड़ता है। वहां बहुत-कुछ ऐसा सुनने को मिला जो वक्तृत्व की कोटि का उठा हुआ था और आपसीपन से अछूता था। मेरे लिए वह अगम बना रह गया और विचारणीय नहीं हो सका।

प्रतिक्रियाएं वहां की क्या हुईं मुझे पूरा पता नहीं है। एकाध जगह कुछ उस बारे में छपा अवश्य पढ़ा है। यह सही है कि हवा उससे साफ नहीं बनी। धुंध कुछ अधिक बढ़ गया। जो शब्द विचार को सुलझाने में बजाय उलझा रहे थे उनपर ध्यान उलटे बड़ा और उभरा। नये पर जोर रहा, जो अपने आप पुराने पर भी पड़ना चला गया। मुझे अपने बारे में सुनने को मिला कि

प्रेमचद के समय के कहानी के साच को मन तोडा था। यह निरा अपवाद है। मैंने सिवा अपने जसा लिखने क कुछ और नही किया। प्रेमचद को तनिक भी कभी मैन अस्वीकार नही किया। अपन का स्वीकार करने मे किसी का अस्वीकार मेरे लिए आवश्यक या उचित नही बना। बल्कि उलटे मैन यह अनुभव किया है कि अपना सहज स्वीकार अर्थात अपनी मर्यादाओ क स्वीकार मे शेष सबका सत्कार अपने आप आ जाता है। किसी व्यक्ति या पीढी का अस्वीकार जब भी मन मे उठे तो मान लेना चाहिए कि हममे निश्छल आत्म-स्वीकारता की प्रक्रिया अभी अपूर्ण रह गयी है। हमारे मनो मे अमुक ग्रथियां काम करने लग जाती है। ग्रथि बनने का कारण केवल अपनी निश्चल स्वीकृति का अभाव ही होता है। अमुक अभिनिवेश या आग्रह या आक्रमण उसी म से फलित होते हैं। यदि ऐसा होता हुआ कही दीख पडे तो उसको सुनना और सहन कर लेना चाहिए और कभी उसको महत्व नही देना चाहिए। वैसी मन-स्थिति म से निकले सब उद्गार व्यक्ति को प्रगट करते है साहित्यिक मूल्य विचार से वे निरपेक्ष हुआ करते हैं। ऐसी लहरें तात्कालिक स्तर पर हमेशा चलती आयी है। तत्काल स आगे उनकी कोई सगति नही रह जाती है। लेकिन इस सबन्ध म अधिक चिंतित होने की आवश्यकता नही है। प्रत्यक्ष द्वारा सृष्ट साहित्यही पीछे रहजायगा वादानुवादपूछा नहीजायगा। कलकत्ता कथा समारोह का बहुत कुछ है जो टिकेगा नही भूल जायगा और खोजायगा। इतना भर रह जायगा कि सब लोग मिल और अपने अपने मन का प्रदान किया और प्रम म इस मात्रा म सौमनस्य बढा। और मैं मानता हूँ कि मुझे निजी तौर पर इस अथ मे काफी लाभ हुआ। मेरे निकट आविष्कार हुआ कि भाई परसाई और श्रीकात वर्मा इतनी साफ सीधी खिलती और चुभती भाषा म अपनी बात कह सकते हैं। डाक्टर शिवप्रसाद और डा० लक्ष्मी नारायण लाल की बातें भी मुझ हार्दिक और स्पष्ट लगीं। भीष्म साहनी लगभग नही बोले किन्तु जितने शब्द आये मिठास म से आये। वृन्दावनलाल जी, भगवतीबाबू और अमृतलाल नागर से तो अधिकार ही था कि हम अनुभव सिद्ध वाणी क अतिरिक्त कुछ न सुन सकें। शेष मेरे मनमे अपेक्षा बनी रह गयी कि बात यदि हृदय की भाषा

समझ लेना चाहा है । समझकर क्या वे पा सके, या दे सके हैं, पता नहीं । लेकिन मैं उस लालसा मे कोई समुपलब्धि की संभावना नहीं देखता । मुझे नहीं मालूम, इस संबंध में अखबारों में क्या छपा है । लेकिन जो बात मेरी ओर से कही गई थी, वह सीधे सादे शब्दों में ऊपर आ जाती है ।

■ क्या उक्त प्रश्न पर समारोह में मीमांसा हुई ? मोहन राकेश और कमलेश्वर के वक्तव्यों पर आपका क्या मत है ?

—शायद उन वाक्यों को व्यक्तिगत आक्रोश और आक्षेप के रूप में समझकर टाल दिया गया । मेरे मन में व्यक्ति थे ही नहीं । मेरे मन में केवल मूलभूत प्रश्न था । असल में यह चर्चा प्रसंगवश ही उठ आई थी । दो एक वक्तव्यों में कह दिया गया था कि हिन्दी कहानी में आधुनिकता जैनेन्द्र से शुरू हुई । यह भी कि जैनेन्द्र लेखक आधुनिक है । इसी पर हठात् उठकर मुझे कहना पड़ा कि मैं इस अभियोग को अस्वीकार करता हूँ (आई प्लीड नोट गिल्टी) । जैनेन्द्र किसी हालत में आधुनिक लेखक नहीं हो सकता है, न उसे आधुनिक होना मंजूर है । आधुनिक जीवन का बहुत बड़ा क्षेत्र ऐसा है जिसके अनुभव से वह वंचित है । इस अनुभव की पूँजी की कमी पर यदि कोई चिंतित नहीं है तो वह आधुनिक कैसे मान लिया जा सकता है ?

इसी बचाव में मैंने अपने अंतिम वाक्य में कहा था कि साठ बरस आयु के हो चुकने पर भी अगर जैनेन्द्र आधुनिक लगना करता है तो क्या बीसी-तीसी के उमर के लेखक आप मानते हैं भ्रूण ही मारते हैं ? इसका आशय था कि आधुनिक और उसी जोड़ में प्राचीनता आदि शब्दों के सहारे जैनेन्द्र का काम नहीं चला है । नामवर आधुनिक मतवाद की कसौटी से कि जिसका चलन है, वह एकदम उतरा हुआ है । उसकी कहानियाँ वस्तुगत अनुभव की दृष्टि से सच्ची नहीं हैं उनकी सचाई यदि है तो निष्प्राण है । स्पष्ट ही वे गढ़न हैं ।

उक्त मेरे मंतव्य को व्यक्तिगत भूमिका देकर उद्वेग का कारण बन जाने दिया गया, विचार विवेचन के स्तर से उसे अलग थलग रख जाने दिया गया, इस पर मुझे खेद रहा और अब भी खेद है । हमारे एक नेता बंधु जो या विद्वान हैं उनके सारे आशय में पहुँचने को रह गये और अन्य तरफ पड़े ।

इसी से समारोह के उत्तप्त वातावरण की कल्पना की जा सकती है।
श्री माहन राकेश और श्री कमलेश्वर के वक्तव्य सभ्रमयुक्त और
विद्वज्जनोचित थे। मुझे स्वीकार करना चाहिए कि वे मेरी कक्षा से ऊँचे थे।
मुझे अनुभव हुआ कि मैं उतना पढ़ा लिखा नहीं हूँ।
आज क कहानी लेखन मे आप क्या समावनाएँ पाते हैं ?
—सभावनाएँ ! सभावनाएँ तो बड़ी उज्ज्वल मालूम होती हैं। डर यही है
क हिन्दी का क्षेत्र बढ़ रहा है और बाजार भी बढ़ रहा है। इसलिए उस घूम-
धाम और कोलाहल मे गुण अनपहचाना और पिछड़ा रह जा सकता है। लेकिन
हर सचाई को हम परीक्षा मे से तो गुजरना ही होता है। इसलिए व्यग्र अथवा
निरुत्साहित होने की आवश्यकता नहीं है।
कहानी के क्षेत्र म बहुत तेजी से और बहुत दिशाओ मे काम हो रहा है।
उस सबका लेखा-जोखा ता म नही दे सकता हू। तो भी काफी-कुछ निगाह
से गुजरता है और अपने को अत्याधुनिक से अवगत रखने की भी कोशिश
करता हूँ। इस प्रयास म तीन नाम सहसा मन पर अकित होकर उभर आये
। निमल वर्मा की कहानिया की पकड से म बच नही सका हूँ। उषा प्रिय
दा की रचनाएँ ममहीन कभी भने नही पाई। उनमे सगोपन और साकेतिकता
भरपूर मिलती है। इधर मनहर चौहान का एक सग्रह देखने को मिला। कथा
कहने की सहजता, साथ ही सवेदन की समता और सूक्ष्मता मुझे बहुत प्रभावी
स्पाश लगी। याद पड़ता है, मोहन राकेश की रचनाओं की छाप मुझ पर
गहरी पड़ी थी। इधर वह अपेक्षया अवश्य कुछ भूली-सी रह जाती है। अतीव
नया म कोई नाम उतना अभी पक्का तो नही बन सका है लेकिन एक ताजगी
अक्सर देखन मे आती है। कुल मिलाकर बहुत कीमती काम हो रहा है और
हिन्दी म निश्चय ही कहानी क स्तर की तुलना किसी भी भारतीय भाषा बल्कि
अनेक विदेशी भाषाओ की तुलना म हल्की नही बैठती। भारतवर्ष म नई से
नई लहर का स्पर्श भी मिलता है और प्राचीन परपरा की जड़ भी यहाँ से
अभी उखड़ी नहीं हैं। इस तरह अत्यत गहरा और सघन भाव मथन की सामग्री
भारतीय जीवन म प्राप्त उपस्थित है। इस देश का वह ...माना जब यहाँ एक

साथ तुर्गनेव, टाल्स्टाय, दास्तोविस्की और गोर्की-जैसे दिग्गज उदय में आये, मानो सम्प्रति भारत भोग रहा है। यहाँ की राजनीति शिथिल और स्थितिशील जो बनती जा रही है सो आशा है कि उसकी क्षतिपूर्ति साहित्य द्वारा होगी। ऐसा ही होता है और सचमुच उसकी चिनगारी जहाँ-तहाँ कहीं कहीं दीख जाया करती है।

○○○

वक्तव्य

अभी एक पत्रिका में कुछ प्रतिक्रियाएँ पढ़ने को मिलीं। कलकत्ते में कथा-समारोह हुआ था और उसी के परिणाम में वे उपजी हैं। उसने मुझे चिंता में डाल दिया है। मैं अपने को अहिंसा का विश्वासी मानता हूँ। मानता हूँ कि यहाँ हर प्रकार के जीवन को खिलने खुलने का अवसर मिलना चाहिए, लेकिन उस पत्रिका में मालूम होता है कि काफी कुछ अनिष्ट भाव मुझको और मेरे वक्तव्यों को लेकर उनमें और सब जीवन के सौमनस्य को वे नष्ट भ्रष्ट कर रहे हैं।

इससे लिखे शब्द की अपेक्षा में बोले गए शब्द की उपयोगिता अनुपयोगिता के बारे में मंथन चल निकला है। लिखा गया शब्द समूह के बीच के, पास नहीं आता। वह एक एक पढ़ने वाले के पास पहुँचता है और हठात् नहीं पहुँचता, यानी वह उसके अस्तित्व को टक्कर नहीं देता। पढ़ने वाले में माँग होती है, ग्रहणशीलता होती है और तब लिखे हुए शब्द के द्वारा लेखक की बात उस तक पहुँचती है। दोनों में किंचित परस्परोन्मुखता बन चुकी होती है। हो सकता है कि लेखक का शब्द और भाव पाठक के मन के और मत के अनुकूल न हो। चाहे तो वह प्रतिकूल ही पड़ जाता हो। तो भी पाठक के अस्तित्व को अगर लेखक के शब्द से यदि कुछ चुनौती मिलती भी है, तो वह उसकी मानसिकता को मिलती है। इस पद्धति से साहित्य के शब्द का प्रभाव एक एक की मानसिकता को जगाता, चौंकाता या ठेलता हुआ व्यापक बनता जाता है। उसका परिणाम चैतन्य उद्बोधन की दृष्टि से इसलिए अनभीष्ट नहीं होता। साहित्य के शब्द ने काफी हलचल और उथल-पुथल भी

मचा दो है लेकिन यह आलोडन मानसिकता के स्तर पर होने के कारण अन्तत जीवन साधक ही होता है। वह मथन जीवन के नवनीत को ऊपर लाता है और कुल मिला कर चत य को प्रकप और उत्कप देने वाला बन जाता है।

लिखा हुआ शब्द किसी के सिर पर जाकर नहीं पडता। आप नही पढना चाहते है तो नही पढते हैं। पढते पढते अरुचि ॥ ऊब जात है तो छोड दते है। यह सुविधा मच से बोले हुए श न्द म नही रहती। वह हठात आप पर पडता है और आपसे टकराता है। आपम उसको माँग नहीं है। पर अगर बठे हैं तो उससे बचने का उपाय भी आपके पास नही है। मच से बोला गया न्द आप पर पडता है। आपसे बात नही की जा रही है आप पर वह न्ली जा रही है और इस तरह उसम खतरा पदा हो जाता है कि आपके अस्तित्व और व्यक्तित्व को वह छेड पह जबकि आपकी मानसिकता सवथा उससे अछूती ही बनी रह जाती है। उसकी चाट महता को लगे और वे शब्द ही लेखक, पाठक के सबध से विरुद्ध वक्ता श्रोता म एक प्रकार की अनात्मीयता पैदा करने वाले बन जाय। वे शब्द ऐसी लहरें उठायें जिनसे विग्रह बने और आवेश उत्पन्न हो। मच से बान गए शब्द व्यक्ति के प्रति नही जाते समूह और भीड से कहे जाते हैं। इसलिए उनके अथ भी अलग अलग तरह से लिये जाते हैं। तात्कालिक मनोभावा का ही उन अर्थों या अनर्थों पर असर पड सकता है। इस तरह मच पर स बोला गया शब्द व्यक्तिगत अनुबध स निरपेक्ष हो जाता है और वह चतन्य का उपकरण नही रहता बल्कि समूह क आवेशो अभिनिवेशा म काम आन लगता है। उसस इस कारण सास्कृतिक प्रयोजन सिद्ध नहीं होता अधिकाश राज नीतिक परिणाम निकाला जाता है। सामुदायिक आवेश और अभिनिवेश राज-नीति म गर्मी लाते हैं और हम इस पद्धति से उसे उभारते हैं। राजनीति मे व्यक्ति गौण हो जाता है गुट गणनाय बनते हैं। इसलिए राजनीति का मेल अन्तश्चतन्य को उदबुद्ध करनेवाला नहीं हुआ करता है अधिकाश मोहाविष्ट करता है और व्यक्ति की आत्म निभरता को घट कम करता है। वह सगठन का माध्यम बनता है और उद्बोधन के माग म अक्सर रुकावट बन जाता है।

खासकर वह मंच, जहाँ वक्ता-श्रोता के बीच केवल ग्रहणशीलता का संबंध न हो, बल्कि वह मंच वाद विवाद का हो ।

मैं इस बारे में अब तक असावधान रहता आया हूँ । मंचों पर जाने और समूह के प्रति बोलने में झिझका नहीं हूँ । अब मालूम होता है, झिझकने की आवश्यकता है । आवश्यकता इसलिए है कि लिखे हुए शब्द का भी उपयोग मैं करता हूँ । लिखा शब्द समूह को स्वीकार नहीं करता, व्यक्ति से वह व्यक्ति को जाता है और जिसके लिए समग्र व्यक्ति हो उस जमाव के प्रति बोलने में कठिनाई होनी चाहिए । छोटी मोटी गोष्ठी तो भी चल सकती है । कारण, उस गोष्ठी में मानो एक व्यक्तित्व का निर्माण हो जाता है । खुले जमाव में वह समग्रता नहीं रहती, इसलिए वहाँ का शब्द स्थिति निरपेक्ष और व्यक्ति निरपेक्ष हो चलता है और भय का अनर्थ पैदा कर देता है ।

गहरे सोच में इसलिए मुझे अब पड़ जाना पड़ा है । सुनता था कि लेखक अच्छा वक्ता नहीं होता । अब तक इसकी संगति मुझे समझ नहीं आती । अब मालूम होता है कि लेखक को वक्ता होना भी नहीं चाहिए । यदि वक्तार वह सफल हो तो शायद लेखकी पर उसका दुष्प्रभाव पड़े बिना नहीं रहेगा । बोलने में तात्कालिक प्रभाव की अपेक्षा भी जुड़ जाती है । लिखने से भी उसका योग हो जाता है तो उसमें कृत्रिमता आने की संभावना है । लेखन आत्माभिव्यक्ति है । जितनी वह अपने प्रति सच्ची होगी उतना दूसरे के अंतरंग को छुएगी । अगर बाह्य प्रभाव की आसक्ति उसमें आ मिलती है तो उसकी अंतरंगता किंचित अहंता से अनुप्रित होती है । वह फिर सच्ची नहीं रह जाती है । लेखक को इसकी थोड़ी सुविधा भी इस कारण रहती है कि वह अकेला होकर लिखता है, कोई श्रोता-वर्ग उसके समक्ष नहीं रहता । उसे अपने से जूझना पड़ता है । और लिखने के द्वारा मानो वह अंतत अपने से ही सामंजस्य साधना चाहता है । फलतः श्रोता-वर्ग उसके सामने हो तो उसके मनोभाव विचलित हो सकते हैं और अपनी ही मर्म भूमिका से च्युत होकर वह तात्कालिक और लौकिक प्रयोजनों में बह जा सकता है ।

आदमी अपनी ही भावना में जब उतरता है तो आत्मशुद्धि की ओर बढ़ता है ।

मचा दी है लेकिन यह आलोडन मानसिकता के स्तर पर होने के कारण अन्तत जीवन साधक ही होता है। वह मथन जीवन के नवनीत को ऊपर लाता है और कुल मिला कर चतय को प्रवय और उत्कर्ष देने वाला बन जाता है।

लिखा हुआ शब्द किसी के सिर पर जाकर नही पडता। आप नही पढना चाहते है तो नही पढते हैं। पढते पढते अरुचि से ऊब जाते है तो छोड देते हैं। यह सुविधा मच से बोले हुए शब्द म नही रहती। वह हठात आप पर पडता है और आपसे टकराता है। आपमे उसकी माग नही है। पर अगर बठ हैं तो उससे बचने का उपाय भी आपके पास नही है। मच से बोला गया शब्द आप पर पडता है। आपसे बात नहीं की जा रही है आप पर वह डाली जा रही है और इस तरह उसम खतरा पैदा हो जाता है कि आपके अस्तित्व और व्यक्तित्व को वह छेड पडे जबकि आपकी मानसिकता सवथा उससे अछूती हो बनी रह जाती है। उसकी चाट बहुता को लगे और वे शब्द ही लखक पाठक के सबध से विरुद्ध वक्ता श्रोता मे एक प्रकार की घनात्मकता पैदा करने वाले बन जाय। वे शब्द ऐसी लहरें उठायें जिनसे विग्रह बढे और आवेश उत्पन्न हो। मच से बोले गए शब्द व्यक्ति के प्रति नही जाते समूह और भीड से कहे जाते हैं। इसलिए उनके अथ भी अलग अलग तरह से लिये जाते हैं। तात्कालिक मनोभावो का ही उन अर्थों या अनर्थों पर असर पड सकता है। इस तरह मच पर से बोला गया शब्द व्यक्तिगत अनुभव से निरपेक्ष हो जाता है और वह चतय का उपकरण नहीं रहता बल्कि समूह के आवेश अभिनिवेश के काम आने लगता है। उससे इस कारण सांस्कृतिक प्रयोजन सिद्ध नही होता अधिकाश राजनीतिक परिणाम निकाला जाता है। सामुदायिक आवेश और अभिनिवेश राजनीति म गर्मी लाते हैं और हम इस पद्धति से उसे उभारते हैं। राजनीति म व्यक्ति गौण हो जाता है, गुट गणनीय बनते हैं। इसलिए राजनीति का बल अन्तःचतन्य को उद्बुद्ध करनेवाला नहीं हुआ करता है अधिकांश मोहाविष्ट करता है और व्यक्ति की आत्म निभरता को कम करता है। वह सगठन का माध्यम बनता है और उद्बोधन के माग म अवसर रुकावट बन जाता है।

खासकर वह मंच, जहाँ वक्ता-श्रोता के बीच केवल ग्रहणशीलता का संबंध न हो, बल्कि वह मंच वाद-विवाद का हो ।

मैं इस बारे में अब तक असावधान रहता आया हूँ । मंचों पर जाने और समूह के प्रति बोलने में झिझकता नहीं हूँ । अब मालूम होता है झिझकने की आवश्यकता है । आवश्यकता इसलिए है कि लिखे हुए शब्द का भी उपयोग मैं करता हूँ । लिखा शब्द समूह को स्वीकार नहीं करता, व्यक्ति से वह व्यक्ति को जाता है और जिसके लिए समग्र व्यक्ति हो उसे जमाव के प्रति बोलने में कठिनाई होनी चाहिए । छोटी मोटी गोष्ठी तो भी चल सकती है । कारण, उस गोष्ठी में मानो एक व्यक्तित्व का निर्माण हो जाता है । खुले जमाव में वह शक्यता नहीं रहती, इसलिए वहाँ का शब्द स्थिति निरपेक्ष और व्यक्ति निरपेक्ष हो चलता है और भय का भ्रम पैदा कर देता है ।

गहरे सोच में इसलिए मुझे अब पड जाना पड़ा है । सुनता था कि लेखक अच्छे वक्ता नहीं होते । अब तक इसकी संगति मुझे समझ नहीं आती । अब मालूम होता है कि लेखक को वक्ता होना भी नहीं चाहिए । यदि वक्ता वह सफल हो तो "नाम" लेखनी पर उसका दुष्प्रभाव पड़े बिना नहीं रहेगा । बोलने में तात्कालिक प्रभाव की अपेक्षा भी जुड़ जाती है । लिखने से भी उसका योग हो जाता है तो उसमें कृत्रिमता आने की संभावना है । लेखन आत्माभिव्यक्ति है । जितनी वह अपने प्रति सच्ची होगी उतना दूसरे के अंतरंग को छुएगी । अगर बाह्य प्रभाव की आसक्ति उसमें आ मिलती है, तो उसकी अंतरंगता निश्चित अहंता से कलुषित होती है । वह फिर सच्ची नहीं रह जाती है । लेखक को इसकी थोड़ी सुविधा भी इस कारण रहती है कि वह अकेला होकर लिखता है कोई श्रोता वर्ग उसके समक्ष नहीं रहता । उसे अपने से जूझना पड़ता है । और लिखने के द्वारा मानो वह सतत अपने से ही सामंजस्य साधना चाहता है । फैला श्रोता-वर्ग उसके सामने हो तो उसके मनोभाव विचलित हो सकते हैं और अपनी ही मर्म भूमिका से च्युत होकर वह तात्कालिक और लौकिक प्रयोजना में बह जा सकता है ।

आदमी अपनी ही भावना में जब उतरता है तो आत्मशुद्धि की ओर बढ़ता है ।

लेखन इसमें सहायक होता है और कोई ऐसा नहीं है जो सर्वथा शुद्ध और निर्मल हो। इसलिए बाहर आकर वे लोग अधिक सफल होते हैं जो हार्दिक से अधिक कुशल होते हैं। हार्दिक जैसा का तैसा प्रगट हो सकता है। कुशल वह है जो अपने ही अनभीष्ट को पीछे रोक रख सकता है और केवल अभीष्ट का ही सामने लाता है। किन्तु कुशल व्यक्ति अपने अनभीष्ट को पीछे रखकर चलने की क्षमता के आधार पर इसलिए घाटे में रह जाता है कि वह उस अनिष्ट तत्व से मुक्त होने की चिंता से बच जाता है। ऐसे दुमुंहे व्यक्ति बनने की संभावना रहती है। दो खाने बन सकते हैं जिनमें हम अपने भीतर बंटे हैं। शिष्ट सामने आने के लिए और शेष पीछे बचे रह जाने के लिए। लेखक होकर किसी के लिए यह संभव नहीं रह जाता है और नहीं रह जाना चाहिए कि वह दो खानों में बंटा हुआ जीये चला जाय। उसे अविभक्त होना चाहिए कि फिर लौकिक सफलता चाहे उससे छूटती ही क्यों न चली जाय। इस तरह अक्सर देखा गया है कि लेखक जो कोमलतम भावों की अभिव्यक्ति अपने लेखन में कर पाता है प्रत्यक्ष जीवन में वही अनगढ़ और रूखा दीखता है। उदार अनुदार दीखने में आता है और आदर्शोपम कृपण बन जाता है। यह केवल इसलिए कि अपने अनिष्ट भाव को केवल पिछवाड़े रखकर ही जीने की कला उसे नहीं आती है। भावना में उतरकर जब वह लेखन-कार्य करता है तब अवश्य वह अनिष्ट वहाँ उपस्थित होने के लिए नहीं आ पाता। इस तरह उसकी रचना भव्य से भव्य-तर होती चली जाती है और वह अपने बहिरंग में उजड्ड और अव्यवहारी बना रहता है। अपने इस असावधान बहिरंग को लेकर उसे बाहर जाना और जीना पड़ता है और अन्तरंग की दुहाई नहीं दे सकता। इसलिए अच्छा है कि वह निरे और बाहर व्यापक सामुदायिक सपर्कों से वह बचे।

पर इन सबके बाद मैं अपने को लेकर सोचता हूँ। लेखक मैं बना तो अपने बावजूद। लेखक के स्वधर्म के बारे में मैं कभी सावधान नहीं रहा। लिखा तो बहुत कम और जो मन में आया। लेखक की एक श्रेणी होता है। उसका अपना एक स्थान और भूमिका होती है। मालूम होता है कि उसपर टिककर रहने का अवसर मेरे लिए आया नहीं। आवारा था, आवारा बना

रह गया और सोचता हूँ कि अगर बाहरी सम्पर्कों की कसौटी से बचकर, अपने में रहकर कलम चलाये जाता हूँ तो फिर अपने दोष उघड़कर उजागर सामने आयेंगे कैसे ? मानव सम्बन्धों और सम्पर्कों में व्यक्ति की वास्तविकता नंगी हो पड़ती है मानो वह दर्पण है जहां आदमी अपने को देख सकता है। मन में मैं अपने को जो चाहे मान सकता हूँ पर जो हूँ वह तो मुझमें अन्य पर अनायास प्रकट हो आता है। इसलिए क्या मुझे सचमुच चाहिए कि वहां से टूटकर मैं कोई कृत्रिम एकांत बनाकर अपने में खिंच बैठूं कि जहां आदमी की कसौटी है और फिर जहां ही उसकी मुक्ति भी है ! आदमी नहीं है मुक्त अपने में। न हो ऐसे मुक्त हो सकता है। उसकी मुक्ति है अनिर्बंध प्रेम-सम्बन्ध में। मुक्ति है इसमें कि वह सबके प्रति समर्पित हो और वैर विरोध की आवश्यकता उसके लिए कहीं रह न जाय। कुछ न बचे जो उसे अनात्मीय हो। न कुछ रहे जिससे उसे भय या आशंका की आवश्यकता हो। अपने को लेकर सब में होने के लिए वह बढ़ निकले। कहीं उसे अंतराय न रह जाय, न कहीं उसके अपनेपन को बंद होना पड़े।

लेखक सफल शायद वह हो सकता है जो भावना में रहे और इसलिए शुद्धतम और सूक्ष्मतम रूप पकड़ता जाय। ऐसे वह स्वल्पतम भी होता जायगा। वह एक बनेगा और एकाकी बनेगा। शायद इसमें वह असामाजिक भी बन जाय। हो सकता है वह विक्षिप्तता के निकट ही पहुँच जाय। वह भावुक होता जाय इतना और इतना कि स्वयं सीधा सतर टिक न सके। आश्रय उसे कृपा का हो और लेखनी के सिवा अन्यत्र उसकी भावना निरी गुण्ठन बनी रह जाय। यह हो सकता है और इसमें मेरे लेखन का साफल्य भी देख लिया जा सकता है।

लेकिन भावना में व्यक्ति नहीं जीता। जीने में कर्म भी लगता है। और भोग से बचा नहीं जा सकता। बचकर अपने में सिमटे तो गांठ के मानिंद हो वह जाता है मुक्त और प्रशस्त नहीं बनता। पर चैतन्य होकर वह जन्मा है तो चेतना घिरकर रहनेवाली नहीं है। सब ओर से उसे आमंत्रण है और चुनौती है। पदार्थ अपने को सर्वथा जड़ बना नहीं सकता। आमंत्रण और

चुनौती के उत्तर में जो रुकता है तो जड़त्व को ही अपनाता है। यहाँ रुकना नहीं है खुलते जाना है। रुकने पर बाह्य जगत बंधन हो रहता है। उसके निमंत्रण और चुनौती पर अपने चैतन्य को खुलते जाने देने में से ही मानो बाह्य जगत में से उसकी मुक्ति का मार्ग प्रशस्त होता है। निश्चय ही इसमें टक्कर होगी, विग्रह होगा। नाना प्रकार के प्रश्न उत्पन्न होंगे और मालूम होगा कि मुक्ति पथ राज पथ नहीं है। वह बड़ा ही कष्टकाकीर्ण है और जीना पुरुषार्थ है समस्या है। इसमें यात्री क्षत विक्षत होता है। ध्वस्त ध्वस्त होता है। पर यात्रा छोड़ी कैसे जा सकती है? यदि मूल चैतन्य खो नहीं गया है और प्रेम निष्ठा अकुंठित है तो बीच के सारे झगड़े-बखेड़े सहे जायेंगे और पार होते जायेंगे। अति दुर्गम मार्ग है और संसार नाना महत्ताओं से घिरा रहता है। पग-पग पर अवरोध है क्योंकि वहाँ मुझसे दूसरा है। किन्तु दूसरा यहाँ क्या है? कौन है और इसलिए चित्तनिष्ठ होकर जो चलता है मानो वह महत्ताओं और आत्मीयताओं में बीच से सहज मार्ग पाता जाता है। धूल उड़ती है, धुंध भी पैदा होती है, ताने तिरन बनते और मिलते हैं पर यह तो जीवन का भोग और प्रसाद है। जनपथ बनती है और अप का जनपथ रचा जाता है। फिर भी क्या डर है? अंत में आदमी को तो रहना नहीं है। रहना सच को है और सच की राह में फूल ही फूल तो मिलनेवाले नहीं हैं, काँटे फूलों से कम सच नहीं होते हैं और आयु बीतती है और आदमी का अंत होता है। शरीर गिर जाता है और लय को प्राप्त होता है। जो बचता है वह स्वयं नहीं होता। स्वयं में शेष होकर जो रहता है वही बचा रह जाता है। अर्थात् सृष्टि रहेगी और सर्जन रहेगा और आदमी एक-एक कर आता जायेगा, करता जायगा और जाता जायगा। इसलिए भावना की पूँजी लेकर हर आदमी को परस्परता के विनिमय होते हुए कम मार्ग पर बढ़ते ही जाना है। कुलिश और कदम से उसे व्यक्त नहीं होना है और लगता है कि साहित्य की मौन वाणी में अवलम्ब से ही उसे नहीं जीना है बल्कि आपसापन में काम आनेवाली मुखर और मंच वाणी से भी उसे कतराना नहीं है। कारण, आदमी कितना ही समर्थ हो कितना ही भावुक हो वह अपने में कुल और समाप्त नहीं है। उसे

शेष दिशाओं में भी होना है। उसे हर घर में उतरना है जिससे उसका एकाकी स्वत्व सार्वजनीन आत्म बन जाय। इस प्रक्रिया में विकास साधने के लिए उसे शब्द प्राप्त हुआ है। लिखा गया मूक शब्द साथ ही बोला गया मुखर शब्द, हर शब्द लहर उठायेगा। उन लहरों में फेन पैदा हो सकता है, गर्जन-तर्जन का रव भी उठ पड़ सकता है, किन्तु लहर उठकर फिर रुकना नहीं जानेगी और यदि शब्द आत्म के तल से आया होगा तो वह सर्वात्म को प्राप्त होगा, बीच में वध नहीं होगा।

और मैं सोचता हूँ कि पत्रिका में प्रगट हुई प्रतिक्रियाएँ यद्यपि घोर हैं कठोर हैं तो भी यदि मुझे मुक्ति चाहिए तो उन सबको पी जाना होगा और निष्ठा को अक्षुण्ण रखकर बचने की युक्ति की खोज में पड़ना नहीं होगा। अच्छा है कि व्यक्तित्व न विचलित हो। उनकी मानसिकता ही हिले। प्रत्येक की श्रद्धा अविचल रहे, आग्रह और अभिनिवेश अवश्य क्षुब्ध और आलोड़ित हो आयें। लहरें उभरें जो शरीर को ज्यों का त्यों पार करती चेतना को झन्नाती और जगाती चलें। शब्द इसी तरह अपना काम करेगा। स्थूल को छोड़ देगा, सूक्ष्म जाकर अपना प्रभाव छोड़ेगा। किन्तु यदि स्थूल उसमें विचलित होता दीखे, स्वार्थों के सूत्र हिलें और छिड़ जायें और उस कारण विग्रह में द्वेष भी पैदा हो, तो भी सब कुछ सह जाना होगा और अपनी प्रार्थना और निष्ठा में भंग नहीं आने देना होगा। प्रार्थनाएँ सब अक्षुण्ण रहें और सब जड़ता और अहंता से उठकर जाग और चैतन्य में एक होते चले जायें।

● ● ●

'पत्नी' के बारे में

पत्नी कहानी किस सन में लिखी गयी ठीक याद नहीं। जान पड़ता है प्रेमचन्द तब जीवित थे। यानी सन् १९३६ रहा होगा।

यों तो क्रान्तिकारी शब्द हमेशा ही आकर्षण का केन्द्र रहा है। पर तब उसमें और भी विशेष महिमा पड़ चुकी थी। लेकिन मेरे मन में होता था कि दृष्टि पर बहुत कुछ निर्भर है। सच अपने में निर्गुण होता है। वह वर्णनातीत है उसमें अपना रूप-वर्ण नहीं होता। धूप को तोड़ो तो ही नाना रंग बनते हैं अन्यथा धूप केवल उजली होती है। यानी क्रान्तिकारी को अपनी मनोरम अभिलाषाओं से मंडित करके जो हम देखते हैं सो शायद यथार्थ सत्य नहीं देखते। उसे निरपेक्ष परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो चित्र सब शायद बदला हुआ दीखे। उतना मोहक भी चाहे वह न हो। चलो प्रयोग कर देखें।

उन दिनों क्रान्तिकारी भगवतीचरण की कहानी उज्ज्वल वर्णों में उभर कर सामने आयी थी। वह बम गोले के साथ प्रयोग करते समय लाहौर में रावी नदी के किनारे घायल हुए और देहान्त प्राप्त कर गये। घायल होने और मरने के बीच काफी समय उनमें साँस रहा। बताया जाता था कि इस अवधि में भी उन्हें अपने कष्ट का उतना ध्यान न था जितनी दल के और दूसरे साथियों के योग-क्षेम की चिंता थी। —आदि आदि वीरता की बातें सुन कर हठात् उन पर मन जाता था। मैंने सोचा कि वह तो क्रान्ति को लेकर जी गए, लेकिन उनको लेकर सगे-सम्बन्धियों ने क्या पाया?

कहानी उपजी इस बिन्दु से। पति के देहान्त बल्कि बाद तक कहानी को मैं ले जाऊँगा ऐसा सोचकर रचना का आरम्भ हुआ। केन्द्र में पत्नी हो

आएगी, ऐसा अनुमान न था। आप जानते हैं, मैं स्वयं नहीं लिखता, लिखाना पड़ता है। लेखक बन्धु को बीच में तनिक उठना हुआ। मैंने देखा कि पाँच छ नोट होने आ गए हैं। कहानी तकाज़े के जवाब में लिखनी शुरू की गयी थी। यानी कि झट इधर हो, उधर फट उसे भेज कर छुट्टी पाई जाए। पाँचेक पृष्ठ में तो कहानी बन ही जाती है। कहानी के नाम पर उतना आकार-प्रकार आसानी से निभ जायगा। लेखक बन्धु आये तो मैंने कहा 'छोड़ो, एकाध वाक्य और जोड़ देता हूँ। बस, इतनी ही को भेज दो।' ऐसे वह कहानी बनी और नाम पत्नी देना पड़ा। पत्नी इसलिए कि वहाँ तक जो रचना की रूपाकृति बनी थी, वह पत्नी के पत्नीत्व को ही उभार दे पाती थी। पत्नी की अपेक्षा में ही पति वहाँ मानो अपना समर्थन-असमर्थन अथवा व्याख्या प्राप्त करते थे। मानो उस कहानी में वह स्वयं उतने गौरवस्थ नहीं रह जाते थे। ऐसे कहानी बनी और मुद्रण द्वारा परोसी जाकर लोगों के सामने आ गई। सुनने को मिला है कि वह रमणीक रचना है, शिल्प की दृष्टि से अत्यन्त भव्य है, सर्वथा सटीक है और जाने क्या-क्या नहीं है। अब बताइए कि यदि यह सब है तो इसमें मेरा दोष कितना है? मैं जो बनाने चला था उसके तो अभी तट तक भी नहीं आ पाया था। जो बन गयी, वह बनाना कभी सोचा नहीं था। इसलिए यदि उसमें कला की या शिल्प की या याम विराम की कोई कुशलता निपुणता है तो वह नामरहानी आ गयी होगी। मुझे उसके लिए ज़िम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता है।

कहानी-लेखक की हैसियत से मैं निर्णय अपने पास नहीं रखता हूँ। हो सकता है कि कहानी में पत्नी चमकी हो और पति फीके रह गए हों। ऐसा कुछ तो कहानी में विविध रंगों के उपयोग से होना अनिवार्य ही है। मेरा उद्देश्य किसी को घट-बढ़ कर दिखाना नहीं है। जो जितना और जैसा है, है। किसी को अच्छा बुरा कहने से क्या आता-जाता है? दृष्टि और चिंतन यदि वैज्ञानिक हो तो इन रुचि निर्भर विशेषणों से छुटकारा मिल जाना चाहिए। यथार्थ यह कि जिसमें अपनी ओर से कमना न जाए। निर्णयवाचक विशेषण बहुत से चलते पढ़ते हैं और उनका डर भी दे जाता है। एक नाम है अग्रगामी,

दूसरा 'प्रतिगामी'। कहानी के पति पर पहला और पत्नी पर दूसरा विशेषण चाहे तो चिपका दिया जा सकता है। पर उन विशेषणों से विशेष्य को अथवा पाठक में उदभूत हुए भाव को व्याख्यायित नहीं किया जा सकता। विशेषण विवेचन के पटल तक जा पाते है। वहीं वे बनते टूटते रहते है। किन्तु कहानी का प्रभाव वहीं तक रहने के लिए नहीं होना चाहिए, उसे सम्वेदन तक उतरना चाहिए। मतवादिता का श्लेष वहाँ तक पहुचने में बाधक हो जाया करता है। वह निर्विशिष्ट अर्थात् केवल सम्वेदन की जो भूमि है वहाँ सिंचन पहुंचना चाहिए। वहाँ से अकुरित हुए को फिर चाहे हम जिस अभिमान की सज्ञा दें। आत्म सम्वेदन को स्पन्दन प्राप्त हो चुका होता है और चेतना को एक उद्बोधन मिल जाता है तो बस है। फिर यह अलग बात है कि किस उपयोग में हम उसे लाते हैं।

कहानी की पत्नी पत्नी इतनी अधिक हो सकती है कि व्यक्ति वह हो ही नहीं। मानो वह परम्परागत धारणा को चित्रित करने में निमित्त बना चरित्र मात्र हो। उसका अपना निजी स्वत्व स्वत्व हो ही नहीं। ऐसा होता है और यही जीवन की विडबना है। निजता नियतता में बस कर कसमसाती रह जाती है। पर उस सम्बन्ध का कोई मन्तव्य रखना के समय मेरे मन में न था। मेरी ओर से वह एक खण्ड चित्र से अधिक नहीं है जिसमे पति विचार में प्रवृत्त है पत्नी सम्वेदना में सवृत्त। ये दोनो वृत्त परस्पर निरपेक्ष नहीं हैं पर दोनों की सापेक्षता जग आविर है और इस तरह इताइत की एक अजीब पहेली सी सामने आ जाती और भांकी देकर निकलती चली जाती है। एक विवशता है जिसमे समानुभूति की व्याप्ति का अनुभव हो सक तो सार्थकता आ जाती है, अन्यथा यह निरी व्यथता बनी रहती है।

फरवरी '६७

० ० ०

विवाद-प्रतिवाद

इस बीच श्री जैनेन्द्र जी की खूब कहानियाँ आ रही हैं। शायद क कण्ट्रास्ट से दो कहानियाँ एक दम सामने रख रहा हूँ। 'विवाह' और 'अ-विवाह' दोनों कहानियाँ आधुनिक हैं, आधुनिक विचारधारा की भी हैं, जिन्हें आज के परिप्रेक्ष्य से ले लिया गया है। आदित्य और मिस्टर रमण, दोनों मर्द पात्र हैं, दोनों के सामने औरत नाम की चीज नंगी होकर या टाइप-कमाकर, नाप जोखकर देख लो इस स्थिति में सामने आती है। जिस काम-कला और जिस प्रेम-कला की बात जैनेन्द्र जी घोर दार्शनिक होकर किया करते हैं, वह अब भी उनकी कलम पर आती है। जैनेन्द्र जी ने जैसे उलझे हुए ज्ञान को 'त्याग' और सुनीता' में सामने रखा है उससे वे एक इंच भी आगे नहीं बढ़े हैं। मुझे आश्चर्य होता है कि १६ से ६० तक वह भी क्यों उलझन ही बना रह गई है ? साफ बात तो यह है कि प्रेम और मदन में अन्तर नहीं है।

और भी कुछ इसी तरह की शिकायतें हैं। कुछ टेक्नीक की एक्सपेरिमेंटेशन की कुछ पोर्नोग्राफिक स्टफ की, । किसी को यह अच्छा नहीं लगा कि क्रिस्टीन कीलर काण्ड को इतनी मजी हुई कलम क्या मिली ? आदि।

टेक्नीक और प्रयोग शब्द अब तक मेरी चेतना से अछूते रहे हैं। मुझे उनका पता नहीं रहता है। हर कहानी फिर भी अपने म अलग बन जाती है। यह अनिवार्यता अनिवार्य और सहज है।

स्टफ का सवाल जहाँ तक है मुझे किन्हीं निषेध की रेखाओं का पता नहीं है। सत्य के अनुसधान म ऐसी रेखाएँ ठहर भी नहीं सकती। बल्कि अनुसधान के लिए अधिकाश सतह के नीचे ही जाना होता है यानी वर्जित क्षेत्र उसे काम के लिए अधिक उपयोगी हो निकलता है।

एक भाइ ने बहुत पते की बात उठाई है। अनासक्ति को लेकर वे पूछना चाहते है कि कि गरुड़ द क 'देवदास' का आदर्श माना जाए कि धर्मशास्त्र के श्रीकृष्ण का ? यह जिज्ञासा मार्मिक है किन्तु उसके विवेचन के लिए अव सर दूसरा बनाना होगा। देवदास पारबती के द्वार पर आकर अन्त म मर जाता है यह अनासक्ति का लक्षण नहीं माना जाएगा।

एक अनोखे बन्धु ने तो कमाल ही किया है। वि—पान म जो वि को अलग करके लिखा गया है मा वह कहते हैं कि वह अग्रेजी का वी है। और वह प्रथम अक्षर Victory का नहीं है, Vagina का है। यह सामान्य कहानी की प्रशसा करते ह और उसम गहरी सूझना देखते हैं। स्वीकार करना चाहिए कि वसी अन्तर्दृष्टि मेरे पास नहीं है।

श्री श्री रमेश बक्षी ! वह स्वय कहानी लेखक हैं। कहानी ही नहीं लिखते नई भी लिखते है। उन्हें अचरज है कि जो मैं शुरू सोलह म था वही अब साठ वर्ष के पेटे म आकर कैसे बना रह गया हूँ ! वहीं का वही दर्शन ! अगर उनकी बात सच है तो मेरे लिए स्वय प्रशसा का कारण है। साठ पर भी मैं सोलह जितना नया हूँ ता क्या यह गौरव की बात नहीं होगी

चाहिए ? यानी अगर रमेश बत्तीस बरस के हों, तो मैं उनसे दुगुना नया ठहर सकता हूं। उनको साफ है कि प्रेम और सेक्स दो अलग चीजें हैं। यह सच है कि मेरे लिए वह सफाई अब तक साफ नहीं है। लगता है कि ये दोनों चीजें, दो समानान्तर रखाओं जैसी सीधी बेहद सीधी समझ के लिए ही हो सकती हैं। लेकिन आदमी और उसकी समझ लकीर की तरह सीधी हो सकती है इसमें शक है !

वो मेरी उम्र साठ तक आया चाहती हो ! मानव जाति की तो लाखा-लाख बरस हो चुकी है। काम प्रेम की उलझन उसकी अब तक कटी नहीं है। क्या करें इस पीढ़ी म जनम कर रमेश बनो उसका पार पा गए हैं, तो बहुत ही शुभ सूचना है लेकिन इसका भरोसा होना नहीं है। अभी मैं सलाह दूंगा कि वे जीयें और भुगतें। उसके बाद जो कहेंगे, वह अधिक सुनने लायक होगा। निमाण की बहक म न आ जाए कि बात उनके लिए सुलझ चुकी है। ऐसा होना तो उपन्यास और फतवा देने का ही काम उनके लिए रह जाता। फतवा भी उनसे आने लगा है लेकिन गनीमत है कि कहानी भी आ रही है। वह सुलझन म से नहीं उलझन म स ही आ सकती है।

एक जगह उन्होने मेरे लिए 'आत्म भोग' शब्द का उपयोग किया है। सदर्भ चाहे मेरा हो शब्द वह बहुत ही सही है। जैनेन्द्र (के साहित्य) का नहीं, सारे साहित्य का ही इष्ट आत्म भोग है। भला सोचिये कि कागज कलम म आत्म-भोग और आत्म सुख ही नहीं तो क्या इन्द्रिय भोग और इन्द्रिय सुख भी पाया जा सकता है ? साहित्य म यदि कोई लेखक या पाठक सचमुच कायिक या यथाथ भोग पाने की अपेक्षा रखते हो तो वह प्रत्याशा अन्त मे विडम्बना ही सिद्ध होने वाली है। यथार्थवाद कुछ इसी भूल म पड़कर, सीमा लांघकर अति वाद बन गया था। और अब भी उसके लक्षण समाप्त नहीं हैं। आत्म भोग की मर्यादा ही साहित्य की एक मर्यादा है। इस स्वीकृति और सीमा म से न जनेन्द्र छूट सकता है न कोई और।

वही अभी मुझ भाषान म मिल थ। विस्मय हुआ कि काम और प्रेम के

दो पन का सहारा उनकी समझ ने अब तक थाम रखा है। मैं उन्हें कहता हूँ कि इस सहारे उनका नया पन अधिक टिक नहीं पायेगा, कारण वह सूत्र बहुत पुराना और जीर्ण बन चुका है। यह तो पलायनी अध्यात्मवादी सूत्र है, जो आज काम नहीं दे पा रहा है। जीवन को एकत्रित और एकीकृत होना है। धर्म पूर्वक काम के पुरुषार्थ को मोक्ष में अभिषिक्त होना है बीच में अर्थ व काम को छोड़कर चलने वाला धर्म मोक्ष तक तो उठा ही नहीं सका उलटे नाना बन्धनों की रचनाएं कर सका है। नव्यता का सहारा लेकर क्या कभी उसी द्विरव को बढ़ाना चाहते हैं?

एक बात और नपुंसक शब्द से वे घबराते मालूम होते हैं। इसी से उसे मानो गाली मान लेते हैं। स्त्रीत्व और पुरुषत्व में यस्तित्व अलग होता है यह स्त्रीलिंग अथवा पुलिंग नहीं होता है। कोई भी आदर्श अथवा मूल्य स्त्रीलिंग व पुलिंग नहीं होता। महत् तत्त्व सब लिंग की उभयता से पार होते हैं। दूसरे शब्दों में समग्रता या नपुंसकता की भूमि पर ही वे प्रतिष्ठ होते हैं। स्वयं स्त्री-पुरुषों का सामाजिक सार्वजनिक व्यवहार व्यक्तित्व की भूमिका पर और लिंगहीन हुआ करता है। इस तरह नपुंसकता में हम व्यक्तित्व के आदर्श की स्थापना भी चाहें तो करके देख सकते हैं। आज के युवकों को अपने पौरुष के बारे में इतना संदिग्ध नहीं होना चाहिए कि हर जगह अपने पुरुषत्व का प्रमाणित करने की हविस हो, अन्यथा भय हो कि कहीं वे नपुंसक न मान लिये जाय। विश्वस्त पौरुष का नहीं बल्कि यह निश्चिन्त बन्ध्य का प्रमाण है। प्रत्येक समाहित व्यक्तित्व लिंगातीत और नपुंसक होता है और यह स्वच्छिन्न नपुंसकता सज्जनता और सभ्यता का लक्षण है। नपुंसक शब्द से किसी को घबराने की आवश्यकता नहीं है। खास कर उस को बिल्कुल नहीं जो पारिवारिक और सामाजिक दायित्वों से घबराना नहीं चाहता है। स्त्रीत्व के अथवा पौरुष के स्वयं प्रदर्शन में से कभी व्यक्तित्व की गरिमा नहीं झलकती है और न अपनी कहानियों में यह मैं सम्भव बना सका हूँ। इस सबंध में मेरे मन में तनिक भी दौर्बल्य की अनुभूति नहीं है। बल्कि मानता हूँ कि यदि युवावस्था में इस

सत्य की याद रखी जा सके तो प्रेम अधिक गम्भीर और विधायक होगा। और समस्या मे अधिक सफलता की सृष्टि कर सकेगा।

इन आये पत्रों से एक दूर की बात भी यहां कहना सगत और आवश्यक जान पड़ता है। वह यह कि मैं अच्छा होना नहीं चाहता हूं। रोग यही है। हम सभी लोग अच्छा होना चाहा करते है। इससे होता है यह कि बुरा ढक जाता है अच्छा मढ जाता है। अच्छाई का लिबास की तरह ऊपर से हम ओढ लेते है और बुराई को आट दिये रहते है। मेरी दिक्कत, खास कर लिखने म, यह है कि मैं अच्छाई को अलग से देख ही नही पाता हूँ, अच्छाई मुझे सच्चाई मे गर्भित होती है इसलिए अच्छा की जगह सच्चा होना मुझे इष्ट है। सच्चा होकर कोई बुरा भी निकले तो मुझे असह्य न होगा उलट झूठा होकर कोई निरा सभ्य सभ्रान्त, शान्त दीखे तो मेरी सहना टूटने लग जाती है। समाज भले को चाहता है और पूछता है। बुरे से वह इतना आकुलित रहता है भलाई उस भली और बुरी लगती है, सच्चाई से और सच्चे से उस खटका रहता है। इसलिए सच्चे के माग म बाधाए और विपदाए आती है। मुझे लगता है कि कठिनाई यहीं से बनती है। नीतिनिष्ठ पुरुषो के रूप म जिन लोगो का महिमा न अपन काल म दुरदुराए गये थे। नई नीति सदा सवदा, शुरू म अनीति जसी लगती रही है। कारण, कि सुविधा प्राप्त हो। आरम्भ म उसम असुविधा प्राप्त होती रही है।

मेरे मन म निश्चय है कि शुभता अन्त म सत्यता के ही साथ है। इसलिये सत्य के माग म विनम्रता कितनी भी आवश्यक हो विचिकित्सा अथवा भय के लिए यहां बिलकुल अवकाश नहीं है।

१२ फरवरी ६८ —जैनेन्द्रकुमार

●

धी

आगर इस अक म जनेन्द्रकुमार जी के विचार छपे दिखे हैं। जाहिर है कि व अपनी जानन्दार कहानी पर आये पत्रों तक सीमित नहीं रहे हैं। वे

चाहते तो दार्शनिक फतवों कसने तथा अपने लेखन में 'अच्छा' और 'सच्चा' ढूंढने के बजाय उस कहानी पर आयी बातों का उत्तर सीधे से उसके सृजन का प्रोसेस बताते हुए दे सकते थे। उन्होंने किया तो यह कि प्रश्नों का दिमाग की बहक बताकर नव्यता, यथार्थवाद, नयी कहानी और रमेश बक्षी तक पहुँच गये हैं। यदि वे मेरे बारे में ही नाराज होकर कुछ कह देते तो मैं यह पत्र नहीं लिखता, लेकिन लगता यह है कि वे भाक में मुझे कमिट कर गये हैं और तन में सारे नव लेखन को चुनौती भी दे गये हैं। अब नयी पीढ़ी की दृष्टि और समकालीन जीवन पर चर्चा करने के लिए एक माध्यम मिल गया है मुझे। आप सोचिये तो सारे साहित्यकार क्या आत्मभोग है? इस इय संवेदना और काम को जो अलग मानते हैं क्या वे एकोहम हैं? लिंग भेद रचनाकार और स्वच्छंद नपुंसकता से विधायक प्रेम किया जा सकता है? विभाजित व्यक्तित्व, बुरा बनाम सच्चा अतियाली झूठा ये सब नये लेखकों की महिमा को उनके द्वारा दिये गये विशेषण हैं। मैं सोचता हूँ नयी पीढ़ी का रास्ता भूलभुलैया वाला हो सकता है, उसका मस्तिष्क नहीं। कभी जैनेन्द्रकुमार जी कहते थे— प्राणि मात्र के सुख दुःख में तद्रूप होकर ही हम अद्वितीय हो जाते हैं। यही साहित्य की चरम उपादेयता है। वे ही आज कह रहे हैं— सारा साहित्य क्या है आत्म भोग है।

बात को एक तरतीब देना चाहूंगा

ठीक ठीक तारीख याद नहीं लेकिन भाई १० वर्ष पहले एक प्राध्यापकजी ने आधुनिक काव्य पर लिखा हुआ अपना एक छात्रोपयोगी लेख दिखाया था उसमें यह ध्वनित था कि आज छायावाद के बाद प्रगतिवाद का ही बोलबाला है और प्रगतिवादी कविताएं ही लिखी जा रही हैं। मैंने उन्हें सुझाव दिया कि प्रगतिवाद था अब नहीं है अब आप प्रयोगवाद पर आकर लेख समाप्त कीजिये। वे मुझसे दो चार प्रयोगवादी काव्य संकलन लेकर चले गये। लगभग हुआ कि पाँच वर्ष बाद आधुनिक काव्य पर उनकी एक पुस्तिका प्रकाशित हुई। उसमें वे प्रयोगवाद की जय जयकार करते हुए उपसंहार पर पहुँचे थे। मैं फिर बोला प्रयोगवाद अब कहाँ है? वह तो आकर चला भी गया। अब आप नयी

कविता को समझ लीजिये। सच ही उसने सारी परम्पराओं को तोड़ दिया है और वह रूढ़ियों से आगे है।" फिर कुछ वर्षों के अंतराल से उनसे मुलाकात हुई। अब वे नयी कविता को आधुनिकता की अंतिम सीमा मानने लगे थे। मैंने हँस कर कहा—'नयी कविता तो अब चुक गयी। मुक्तिबोध जी ने कहा कि नयी कविता रूढ़िग्रस्त हो गयी है वह दायरे में जकड़ गयी है। मेरी बात से वे एकदम चिढ़ गये। बोले— तुम मेरे साथ छल कर रहे हो। पता नहीं तुम नयी पीढ़ी के लोगों को क्या हो गया है कल से तुम लोग हर सुबह एक नया झण्डा लेकर आओगे मैं समझ ही नहीं पाता कि तुम नये लोग इतनी तेजी से कैसे आगे बढ़ जाते हो ? मैंने उन्हें शान्त किया और कहा— मुझे भी आश्चर्य है कि आप पुराने लोग आगे क्यों नहीं बढ़ते अपनी ही जगह क्यों रेंगते रहते हैं ?'

यह था यही सवाल मैंने जैनेन्द्रकुमार जी से भी पूछा था कि सोलह से साठ तक यह भी वही उलझन कम बनी रह सकती है ? नयी पीढ़ी का ही नहीं हर व्यक्ति हर क्षण आगे बढ़ता रहता है। लाखों-लाख वर्षों के इस समय पर चढ़ते हुए सारी पीढ़ी आगे बढ़ती है। सारे समाज की एक उम्र होती है जो बढ़ती रहती है। हर व्यक्ति विश्राम रखता पर आगे बढ़ता है। हर नयी पीढ़ी पुरानी पीढ़ी के विरुद्ध में आग आती है। उम्र समय-समष्टि समाज और साहित्य में पीछे की तरफ चलना कभी होता नहीं है। धरती का गोल घूमना धुरी पर ही गोल है समय पर नहीं। समय के प्रारम्भ और अंत कभी मिलते ही नहीं। हर व्यक्ति अपने में हर क्षण कुछ न कुछ जोड़ता है। पाँच की उम्र में जो बाल जिज्ञासाएँ रहती हैं दस की उम्र में वे बेमानी हो जाती हैं। दस का मस्तिष्क बीस तक पहुँचते अधिक सूक्ष्म बन जाता है। बीस की उम्र में जिस प्रेम में व्यक्ति तल्लीन होकर डूबता है तीस पर पहुँचते वह स्वयं उसे 'एडोलेसेण्ट नानसेंस' कहने लगता है। व्यक्ति प्रौढ़ होता रहता है। यह विकास और प्रगति की एक प्रक्रिया है जिसमें से सभी गुजरते हैं। कहना यह चाहता हूँ कि १६ की उम्र में व्यक्ति जितना अपरिपक्व सीमित ज्ञान तथा अनिश्चित दिशा वाला होता है, वैसा वह साठ की उम्र में नहीं रहता। मानस और साठ

दोना छोरो पर नयापन हो सकना है लेकिन प्रश्न उनकी नियी
सोलह मे भी नये नही थे । वृक्ष की गति धीमी हो सकती है वे
भी चल सकते है, तब प्रश्न यह है कि आज नयी कविता और न
बीच रत्नाकरजी और कौशिकजी कसे जमेंगे ? आज जब युग का
तेजी से घूमते पहियो पर बठा है हम लोग एक दौड़ती हुई दुनि
तो समय के साथ पर मिलाकर चलना नयी पीढ़ी की नियति है।
बात है कि जनेन्द्रजी कह दें— 'कौन चला है समय के साथ पैर मि
सोचना तो हमारा अहभाव है। यदि किसी अवचानिक तरीके से कोई
के किसी हिस्से पर रोक लग तो वह वसा ही ज म भर लिख और
है । रोमांस लिखना शुरू किया तो ज म भर रोमास लिखते रह
फुरलिया क गीत गाना शुरू किया तो आज म वसे ही गीत गाने
अपनी दुकानदारी की बात भी है। वैसा न करना ग्राहकों को ता
किसी गाने वाले को नयी कविता लिखने की सलाह देना उसके क
का मार्केट छीनना होगा । किसी भी देश के साहित्य म सयोग से सब
नहीं बनती है, लेकिन अपने देश म ऐसा होता है । किसी समीक्षक
दार्शनिक कह दिया तो उसी चोगे को ओढ़ने लगा । लेकिन आज
लेखक सयोग को चुनौती देने की क्षमता रखता है । मुझे यह याद
कि कट्टो (परम वाली) पाठकों को पसन्द आयी थी इसलिए उ
अपनी बाद की रचनाओं म रूपान्तर स कट्टो को बार बार लाये हैं
नग्न होना चर्चा का विषय रहा पाठकों न उनके साड़ी-ब्लाउज उ
चटखार लिये इसीलिए आज भी वे 'निधान और अविधान' म
स्थिति ले आये हैं । यह उनके लेखन का नुस्खा है पुरानी कहानी क
का राज है । सुनीता १६३२ म नगी हुई वही १६६४ म लौटरान
रूप होकर फिर शरीर अनावृत कर रही है । अनावृत होने की
मसी है । पाठकों का किसी स्थिति विशेष म चाट का मजा आना
विराम चर्चा लेखक को चाट का ठेला लगा लेना चाहिए ?

३५५१५

नयी कहानी के लेखको की ट्रेजेडी यही है कि व परिपक्व होते चलते हैं
और यही उनका नयापन है। ऐसा अगर नही होता और वे नुस्खो पर ही
चलते तो हिन्दी मे दस जनेन्द्रकुमार बीस कृश्नचन्दर और चालीस शरच्चन्द्र
पिछले एक दशक म पैदा हो जाते।

नयीपीढी के लेखक के साथ एक और त्रिवृन है कि वह कुछ ओढता
नही या कुछ ओढकर चलना पसन्द नहीं करता। जहाँ दशन की बात आती
है यह उसका विश्लेषण कर देता है। जहाँ आध्यात्मिकता की बात आती है
वह उसे अव्यावहारिक ठहरा दता है। जहाँ काम का प्रश्न उठता है वह
उसमे उलझता नही। जहाँ प्रेम की गुत्थियाँ पैदा की जाती ह वह उसे आउट
ऑफ डेट कहकर अपने दूसरे जरूरी कामो म व्यस्त हो जाता है। काम और
प्रेम को सहजता से वह क्रिया और भाव की सज्ञा दे देता है। उसका विभा
जित व्यक्तित्व आस्था की दृष्टि से गलत हो लेकिन हकीकत है, इसलिए उसे
स्वीकार कर लेता है। वह घर म दीपक पहले जलाता है उसका घर आज
का वास्तव लोक है। वह प्रेम से असम्पृक्त होकर काम म डूब सकता है
क्योंकि काम उसके लिए भूख है। वह काम से असम्पृक्त होकर प्रेम म कुछ
समय के लिए खो सकता है क्योंकि प्रेम उसकी सवेदना है। वह पागल के
लिए कुछ नही कर सकता उसके लिए प्रेम शरीर पर इत्र छिडकने की तरह
वैमनस्य है। वह काम मे सदा सवदा डूबा नही रह सकता क्योंकि भूख
सबसे जरूरी है लेकिन चौबीसो घण्टे खाना खाते नही रहा जा सकता। उसके
पास ऐसे दशन म उलझने का भी वक्त नहीं है। वह इन्द्रिय सचेतना लेकर
पैदा हुआ है—उसे काला काला और सफेद, सफेद दिखायी देना है। उसे
खट्टा, खट्टा लगता है और मीठा मीठा लगता है। यदि नयी पीढी के किसी
व्यक्ति की आँखें खराब हो जायें तो वह स्वीकार करेगा कि उसे दिखायी
नही दे रहा है, जबकि पुरानी पीढी का व्यक्ति आँख फूट जाने पर भी यह
कहेगा—उमर बढने से दिखाई कम पडता हो ऐसा मेरा अनुभव नही है। आँखें
शिथिल हों तो कोई कारण नही कि दखना भी शिथिल पडे।' आदमी ऐसा
महात्म्य प्राप्त कर ले तो क्या कहने फिर तो दुनिया का सत्य मुट्ठी म होगा।

जा रहे है तो केवल इसलिए कि उनसे उत्पन्न होनेवाले भय का अवश्य बडा उपयोग है। उस भय के नाते ही युद्ध रुका हुआ है, अन्यथा अब तक वह कभी का फूट पडता। डेटरेण्ट उपयोग यहा माना जाता है।

लोग विज्ञान को सही मान रहे हैं दोष सब राजनीति का मानते हैं। अर्थात उस नीति का जो विज्ञान का उपयोग करती है। विज्ञान तो विशुद्ध ज्ञान है और उसमे से बल प्राप्त होता है। उस बल का यदि सहार के लिए उपयोग किया जाता है तो यह दोष वैज्ञानिक का नही है, नेता का है। ऐसा मानकर विज्ञान को अधिकाधिक महिमान्वित ही किया जा रहा है।

मेरा यह मानना है कि पदार्थ-वैज्ञानिक ही वैज्ञानिक नहीं हैं बल्कि राजनेता भी है जो विज्ञान की दृष्टि रखकर चलने का प्रयत्न करता है। आज का समाजनेता और राजनेता श्रद्धा का पुरुष बनने की अपने लिए उतनी आवश्यकता नहीं देखता जितना वह समाज का वैज्ञानिक बनना चाहता है। इस तरह यह समूची सभ्यता वैज्ञानिक बनने के प्रयास म विभीषिका बन आयी है। अत स्वय विज्ञान के आशय अथवा मूल के विवेचन की आवश्यकता हो सकती है।

विज्ञान में हम ज्ञाता होते हैं वस्तु को ज्ञेय के रूप म लेते हैं। इस तरह वस्तु की लिप्सा स उसके अनुराग से, हम उत्तीर्ण बन जाते हैं। उस निर्विकार और वीतराग वृत्ति से तत्पूर्वक वस्तु की यथार्थता म उतरकर मानो वैज्ञानिक सत्य को उपलब्धि करते चले जाते हैं। इसी म से विज्ञान की उन्नति हुई है और नये से नये आविष्कार हो पाये हैं। मनुष्य की क्षमता और विभुता बढ़ी है और वह प्रकृति का आज मानो दास नहीं है, बल्कि स्वामी बन सका है।

मुझे लगता है कि यह तमाम उन्नति और सिद्धि अपने आप म बडी सन्दिग्ध रही है। सत्यता एव वास्तविकता के साथ मनुष्य का यह विभुता का सम्बन्ध सर्वथा इष्ट ही नहीं है कदाचित अनिष्ट भी है। विज्ञान का

खोजी तो जितने गहरे उतरता है उतना ही अपने आगे के ज्ञेय अर्थात् अज्ञात तत्व की अपारता के समक्ष विनीत और जिज्ञासु बनता है। किन्तु वैसे विरल खोजी को छोड़कर उस वैज्ञानिक खोज के फल से लाभ उठानेवाले शेष जन उद्भ्रान्त और प्रमत्त बने हैं, भगवान से वे शून्य हो जाते हैं और प्रकृति का विस्मय उनके लिए समाप्त हो जाता है। इस तरह मानव स्वभाव में से उसकी एक सम्पदा ही लुट जाती है। आस्तिकता और ऋजुता नष्टप्राय होने लग जाती है।

पदार्थ के क्षेत्र में वैज्ञानिक वृत्ति की यह त्रुटि एकाएक नजर नहीं आती। किन्तु मैंने इधर मानव-सम्बन्धों के बीच में इसी वैज्ञानिक वृत्ति को उतारकर अपनी 'विज्ञान' कहानी में देखना और दिखाना चाहा है। परिणाम जो हुआ उसी ने कहानी के रूप में गठन और व्यंजन पाया है। परिणाम बीभत्स और विडम्बनाजनक के अतिरिक्त कुछ और हो नहीं सकता था। वही बीभत्स घोरता पाठक के पास यदि पहुँचती है तो कथा का अभीप्स्य ही उससे अनायास पूरा हो जाता है। सचमुच ही उस भीषण सम्भावना को पाठक की चेतना तक मैं पहुँचाना चाहता हूँ जो वैज्ञानिकता को मानव सम्बन्धों के बीच में ज्यों का-त्यों उतारने के कारण छा जा सकती है।

'विज्ञान' कहानी के श्री एक्स किसी अपनी महान् आत्मवादी विश्व योजना में नारी सामर्थ्य का पूरा उपयोग कर लेना चाहते हैं। इस हेतु में ऊपरी तौर पर कोई दोष नहीं देखा जा सकता है। कहानी में वे नितान्त उत्तीर्ण प्रतीत होते हैं। नारी का नग्न शरीर जहाँ नापा-तोला जा रहा है, उधर वे आँख फेरने को भी तैयार नहीं हैं। उनको प्रकट में उस शरीर में तनिक आकर्षण नहीं है और वे सेक्रेटरी के द्वारा ही उस नाप-तोल के आंकिक व्यापार को पूरा करा लेते हैं। उनकी अपनी निगाह यदि है तो उस शरीर की यथार्थता और आकर्षकता पर नहीं है बल्कि उसके पार उस तत्व के गहरे उपयोग पर है। कारण श्री एक्स मनुष्य नहीं हैं, वैज्ञानिक हैं। सामान्य मनुष्य को जो या तो अरुचिपूर्ण घृणा से या लोभपूर्ण लालसा से भर दे सकता

हैं वह बसन प्रलाभनीय उनके लिए अविचारणीय है। उनका विचार ऊँचाई पर है मानो वे किसी आत्म स्वप्न म अवस्थित हैं। इसलिए न उन्हे जुगुप्सा है, न घणा है। न लोभ है न लिप्सा है। अपने आदर्श हेतु के प्रति मानो वे सम्पूर्ण समर्पित हैं निजत्व से सवथा उत्तीर्ण और अभिसिद्ध। उस दृश्य से जो पाठकों को जुगुप्साजनक लगा है यदि हम श्री एकस के व्यक्तित्व को अलग करके देख सकें तो शायद वह चरित्र महान और उदात्त और जितेन्द्रिय योगी के रूप म देखा जा सकता हो।

कथा की अंतिम दो तीन पक्तियाँ यह दिखाने के लिए हैं कि यह वैज्ञानिक व्यक्ति यदि इतना उत्तीर्ण और सिद्ध सयत दिखायी देता है तो केवल इसलिए कि उसने अपने भीतर के किसी गूढ़ सत्त्व का अस्वीकार किया है। मानो अतर्भावना को कुचलकर शून्यप्राय बना लिया है। उस सत्त्व को रोमांस कहिए या कुछ कहिये। कहानी के द्वारा कहानी म और कहानी से बाहर भी मेरा आग्रह है कि विज्ञान के जोर से उस स्वप्न सत्त्व अथवा सत्य को छूना या छोडना नही होगा बल्कि उसका अविकल स्वीकार करना होगा। अन्यथा मानव विभु के बजाय दस्यु और देवता के बजाय दानव ही बन सकेगा दूसरा कोई परिणाम नही आयगा। दूसरे शब्दों म आस्तिक श्रद्धा के अभाव म विज्ञान अश्रेयस्कर परिणाम ही ला सकता है।

इसलिए कहानी न जितनी जुगुप्सा और घृणा पैदा की है उतना ही एक तरह से मुझे सन्तोष प्राप्त हुआ है। क्योंकि उसमे जाने अनजाने मेरे अभिप्राय की अभीष्ट सिद्धि ही हुई है।

मुझे दुख है कि कहानी के अपने अन्तरग मन्तव्य के बारे में मुझे ये शब्द कहने पडे हैं। वह सब पाठक की ओर से आविष्करणीय रहने देना चाहिए था, मेरे द्वारा वह आरोपित नही होना चाहिए था। फिर भी यह करना पड़ा है इसके लिए मैं आपका और आपके पाठकों की क्षमा का प्रार्थी हू।

—जैनेन्द्रकुमार

• ••